भारतीय साहित्य के निर्माता

गुरु गोबिंद सिंह

लेखक

महीप सिंह

साहित्य अकादेमी

अनुक्रम

1
पूर्व पीठिका

गुरु गोबिंद सिंह के साहित्य को समझने के लिए उनकी पूर्व-परम्परा का संक्षिप्त परिचय बहुत आवश्यक है। बहुधा यह कहा जाता है कि गुरु गोबिंद सिंह ने एक शान्तिपूर्ण धार्मिक सम्प्रदाय को सैनिक शक्ति में परिवर्तित कर दिया। ऐसे लोगों की यह मान्यता है कि सिख सम्प्रदाय के स्वरूप-परिवर्तन का कार्य गुरु गोबिंद सिंह को तत्कालीन परिस्थितियों से बाध्य होकर करना पड़ा था। यह दृष्टि गुरु गोबिंद सिंह के जीवन-कार्यों एवं आदर्श को उनकी पूर्व-परम्परा से कटा हुआ देखती है। परन्तु गुरु गोबिंद सिंह की पूर्व-परम्परा का ऐतिहासिक दृष्टि से किया हुआ विश्लेषण यह सिद्ध करने में समर्थ है कि उन्होंने जो कुछ भी किया, अपने अनुयायियों को जो भी वेश-भूषा दी, और अपने साहित्य के माध्यम से उनके सम्मुख जो भी आदर्श प्रस्थापित किये, वे उनकी पूर्व-परम्परा का विस्तार थे।

शताब्दियाँ बीत जाने के बाद गुरु नानक पहले महापुरुष थे, जिन्होंने पंजाब की उपेक्षित, पीड़ित और आत्मविस्मृत जनता की चेतना का स्पर्श किया था। अन्याय का प्रत्यक्ष प्रतिरोध करने के पूर्व जनता में जिस आत्मबल की आवश्यकता होती है, गुरु नानक ने उसके निर्माण का सूत्रपात्र किया। इस कार्य के लिए उस युग में धर्म का आश्रय ही सर्वाधिक प्रभावशाली आश्रय था। उन दिनों विभिन्न वर्गों के आर्थिक-सामाजिक सम्बन्ध धर्म-व्यवस्था द्वारा ही विचार के क्षेत्र में व्यक्त और प्रतिबिम्बित होते थे, क्योंकि धर्म ही मनुष्य के समस्त कार्य-व्यापारों का नियमन करता था। उन दिनों लोक-मानस में मनुष्य की मुक्ति का संघर्ष धार्मिक स्तर, लोक-परम्परा का उच्च वर्गों की शास्त्रीय परम्परा से प्राप्त विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच धार्मिक-दार्शनिक शब्दावली और रूपकों का आश्रय लेकर अभिव्यक्ति

पाता था। धार्मिक क्षेत्र में ईश्वरोपासना के अधिकार की माँग, मनुष्य मात्र की समता का उद्घोष और निम्न समझी जानेवाली जातियों के प्रति सहानुभूति का भाव युगबोध को व्यक्त करता था। गुरु नानक की रचनाओं से हमें इस भावाभिव्यक्ति का बड़ा मार्मिक परिचय मिलता है। उस युग में जब मुसलमान की अपेक्षा हिन्दू, स्वर्ण की अपेक्षा अछूत और योगी की अपेक्षा गृहस्थ नीचा समझा जा रहा था, गुरु नानक ने कहा कि ईश्वर की कृपा-दृष्टि वहीं पड़ती है, जहाँ नीचों को सँभाला जाता है—

जित्थे नीच सँभालियन,
तित्थे नदरि तेरी बख्शीस।

और उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र उन कथित नीचों के बीच ही घोषित किया—

नीचाँ अंदरि नीच जाति,
नीचीं हूँ अति नीच।
नानक तिनके संगि साथ,
बडियाँ सूँ क्या रीस।।

सामंती सामाजिक व्यवस्था में उच्च कुल में जन्म लेने का अहम् भाव बड़ी गहराई से व्याप्त रहता है। परिणाम यह होता है कि लोग अपनी जाति, अपने वर्ण और अपने कुल की मान-मर्यादा के मिथ्याडम्बर में फँसकर मानवीय एकता को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। गुरु नानक के समय विभेद की यह स्थिति अपने चरमोत्कर्ष पर रही होगी, तभी तो उन्होंने कहा—ऐसे लोग इस संसार में विरले ही हैं जिन्हें परखकर संसार के भंडार में रखा जा सके, जो जाति और वर्ण के अभियान से ऊपर उठे हुए हों, और इस प्रकार सांसारिकता से मुक्त हों—

ऐसे जन विरले जग अन्दरि, परख खजाने पाइआ।
जाति बरन से भये अतीता, ममता लोभ चुकाइया।।

ऐसी व्यवस्था में उन्होंने लोगों को वर्ण और जाति के मिथ्याभिमान को छोड़ने के लिए कहा, जो मानवीय समता के मार्ग में शूल बनकर बिखरा हुआ था। उन्होंने कहा कि ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म का विचार करता है, न कि वह जो अपने वर्ण का अभिमान करता है—

जाति का गरब न करियहु कोई।
ब्रह्म बिन्दे सो ब्राह्मण होई।।

उनका आग्रह था कि कोई भी अपनी जाति का गर्व न करे, क्योंकि यह गर्व अनेक विकारों को जन्म देता है—

जाति का गरब न कर मूरख गँवारा।
इस गरब ते चलई बहुत विकारा।।

ईश्वर-रूपी कुम्हार एक ही प्रकार की मिट्टी से अनेक प्रकार के बर्तनों की रचना करता है। जब एक ही प्रकार के पाँच तत्त्वों से मिलकर इस मानव-शरीर की रचना होती है तो छोटे-बड़े का विचार कैसा ?

माटी एक सगल संसारा।
बहुबिधि भांडे घड़ै कुम्हारा।।
पंच ततु मिल देहा का आकारा।
घट बध को करै विचारा।।

गुरु नानक जैसा दृष्टि-विस्तार हमें उस युग के किसी अन्य महापुरुष में शायद ही दृष्टिगत हो। अधिकांश निर्गुण संत घुमक्कड़ वृत्ति के थे, परन्तु गुरु नानक जैसी घुमक्कड़ वृत्ति का व्यक्ति मध्ययुग में हमें दूसरा दिखाई नहीं देता।

सामाजिक क्षेत्र में, इस युग के संतों में से जन-जीवन से इतना व्यापक और घनिष्ठ सम्बन्ध शायद ही किसी और का रहा हो। अपनी यात्राओं से प्राप्त दृष्टि-विस्तार ने उन्हें युग की आवश्यकताओं को समझने में बहुत मदद दी। गुरु-प्रधान उस युग में उन्होंने गुरु की अपेक्षा गुरु-पद की महत्ता की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार व्यक्ति की अपेक्षा संस्था का महत्त्व बढ़ा। स्वयं 'नानक' शब्द आगे चलक व्यक्तिबोधक न होकर संस्थाबोधक हो गया।

गुरु नानक किसी संकुचित धार्मिक विचारधारा के प्रवर्तक नहीं थे। वे ऐक्य-साधक थे। उस युग में, जब आक्रान्ता विदेशी सत्ता से देश की संस्कृति, धर्म और दर्शन की रक्षा के साथ ही अपने दैनिक जीवन की सुरक्षा एवं शान्तिपूर्ण समाज की बहुत आवश्यकता थी, गुरु नानक ने देश के विभिन्न भागों में बिखरे हुए संतों की वाणी का संग्रह किया। इन संतों में हिंदू भी थे, मुसलमान थे। उच्च वर्ण के भी थे, निम्न वर्ण के भी थे। अपनी यात्रा में गुरु नानक जहाँ कहीं भी गये, वहाँ के प्रमुख संतों से मिले तथा अपनी विचारधारा के अनुरूप उनकी वाणी का अपने पास संग्रह किया। आगे चलकर जब पंचम गुरु, गुरु अर्जुन देव ने 'आदिग्रन्थ' का

संपादन किया तो गुरु नानक द्वारा एकत्रित विभिन्न संतों की वाणी भी उसमें संगृहीत की गई। इस प्रकार गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित मत में एक व्यक्ति या उस व्यक्ति की अपनी परम्परा की ही सर्वोच्च महत्ता नहीं रही, बल्कि उत्तर भारत तथा महाराष्ट्र के नामदेव और त्रिलोचन जैसे अनेक संत इस 'गुरु पद' के सहभागी बन गये।

देश की भावात्मक एकता और लोक-संग्रह की दृष्टि से इस प्रयास का मूल्यांकन सहज ही किया जा सकता है।

मध्ययुग में स्त्री-निन्दा का स्वर बहुत मुखर रहा है। सामाजिक असमानता के कटु आलोचक कबीर ने भी 'कामणी काली नागणी तीनों लोक मँझारि' कहकर स्त्री की निन्दा की और उसके सम्पर्क को बुद्धि और विवेक को नष्ट करनेवाला बताया—

नारी सेतीं नेह, बुधि विवेक सब ही हरे।

परन्तु इसे आश्चर्य ही कहा जायेगा कि उस घोर नारी-निन्दक युग में भी गुरु नानक ने नारी की निन्दा नहीं की, अपितु उसकी महत्ता को स्वीकार किया—

सो किऊँ मन्दा आखीए जितु जम्महि राजान ?

(उसे बुरा क्यों कहा जाए जो बड़े-बड़े राजाओं को जन्म देती है।)

कदाचित् इसीलिए गुरु नानक की रचनाओं में स्त्री-पुरुष का रूपक इतना कलात्मक और हृदयग्राही बन पड़ा है।

गुरु नानक के समय इस देश में इहलौकिक जीवन के प्रति विरक्ति एवं पारलौकिक साधना के लिए गृह-त्याग कर संन्यास ग्रहण करने की प्रवृत्ति अपने पूरे उठान पर थी। गुरु नानक ने इस प्रवृत्ति को अधिक महत्त्व नहीं दिया। विदेशी शक्तियों एवं समाज के सामन्ती वर्गों द्वारा जनता पर जो भी अत्याचार हो रहे थे, वे सांसारिक स्तर पर ही थे। सांसारिक कर्त्तव्यों के प्रति उन्मुख होने का अर्थ था उन अन्यायों के प्रति भी उन्मुख होना। गुरु नानक ने कहा—मनुष्य का मन तो ईश्वर में रहे परन्तु हाथ सांसारिक कर्त्तव्यों की पूर्ति में लगे रहे—

मन करतार महिं अउर कर है किरत माँहि।

इसी विचार का आग्रह उनके परवर्ती गुरुओं की वाणी में भी है। गुरु अर्जुन देव ने कहा था—उद्यम करते हुए जिओ, कमाते हुए सुख प्राप्त करो, ईश्वर का ध्यान करते हुए उसे मिलो। इस प्रकार तुम्हारी चिंता दूर हो जाएगी—

उद्दम करेंदियाँ जीअ तू कमावदियाँ सुख भुंज।
धिआदिंआँ तू प्रभु मिलि नानक उतरी चिंत।।

इस प्रकार गुरु नानक ने जनता के सामने जिस उपासना-पद्धति का प्रवर्तन किया वह सभी पूर्वाग्रहों, पाखंडों, अवनतिमूलक अंधविश्वासों और मिथ्याडम्बरों से मुक्त थी। साधारणतया जनता की मनोवृत्ति का झुकाव किसी आदर्श को आत्मसात करने की अपेक्षा उसके प्रति अवतारोपासना अथवा वीरपूजा का भाव प्रदर्शित करने की ओर ही अधिक होता है; और वह अपने-आपको उस तक ऊपर उठाने की अपेक्षा उसी को अपने स्तर तक लाना अधिक पसन्द करती है। वह ऐसे आदर्शों को अपनी कल्पना के द्वारा सदा सजीव एवं सक्रिय मानते हुए उसके दयालुता आदि गुणों में पूरी आस्था रखने लगती है, और चाहती है कि उसके सब तरह अकर्मण्य रहते हुए भी, वे उसे अपनी भुजाओं में लेकर सभी संकटों से मुक्त कर देंगे। गुरु नानक के अनुसार इस प्रकार की मनोवृत्ति अक्षम्य है। इस प्रकार के अवतारवाद अथवा परलोकवाद में न तो उनका विश्वास था, न ही आस्था। अपने हाथों अपना उद्धार करने के वे प्रबल समर्थक थे। इसलिए गुरु नानक एवं परवर्ती गुरुओं ने अपनी शिक्षा को ईश्वरोपासना तक ही सीमित नहीं रखा, वरन् उसे अपने दैनिक जीवन में घटित करने के लिए चारित्रिक शुद्धता और आचरण की पवित्रता की ओर भी उन्मुख किया। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने सिख गुरुओं के कार्य का वैशिष्ट्य प्रदर्शित करते हुए अपने ग्रंथ 'उत्तर-भारत की संत परम्परा' में लिखा है कि गुरुओं ने सांसारिकता के बीच रहते हुए उपदेश दिये और साथ ही अपने व्यक्तिगत जीवन का आदर्श भी सबके सामने रखा। गुरु नानक देव के वर्ण-व्यवस्था दूर करने का मुख्य उद्देश्य भी यही था कि संकुचित सीमाओं को हटाकर व्यक्ति का पूर्ण विकास किया जाए। उनके मतानुसार आदर्श व्यक्ति वही हो सकता है जिसमें ब्राह्मणों की आध्यात्मिकता क्षत्रियों की आत्म-रक्षक भावना, वैश्यों की व्यवहार-कुशलता, एवं शूद्रों की लोकसेवा-भावना एक साथ विद्यमान हो; और जो आत्म-चिंतन से लेकर कठिन से कठिन सांसारिक उलझनों तक में समान अविचल और निर्द्वन्द्व रह सके।

गुरु नानक ने जिस कार्य का सूत्रपात किया था, परवर्ती गुरुओं द्वारा वह क्रम आगे बढ़ा। द्वितीय गुरु, गुरु अंगद ने गुरु-गद्दी के प्रभाव का विस्तार किया तथा अनेक आवश्यक बातों का समावेश भी किया। पंजाब में उन दिनों अरबी-फारसी भाषाओं का प्रभाव था। गुरु नानक ने विदेशी भाषाओं का अन्धानुकरण करनेवालों

की भर्त्सना की थी—'खत्रीआ तू धरम छोडिया मलेच्छ भाखा गही।"

गुरु अंगद ने उस प्रदेश की एक प्राचीन भारतीय लिपि का पुनरुद्धार किया जो आगे चलकर 'गुरुमुखी' नाम से जानी जाने लगी। सिखों की सर्वाधिक लोकप्रिय संस्था 'लंगर' के प्रोत्साहक भी गुरु अंगद थे। सामाजिक समता के भावनात्मक निर्माण में यह कदम बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ था।

तृतीय गुरु, गुरु अमरदास के समय आन्दोलन का प्रभाव-क्षेत्र बहुत व्यापक हुआ। इन्होंने अपने सम्पूर्ण कार्य-क्षेत्र को विभाजित किया और इस प्रकार के 22 विभाजित क्षेत्रों में 'मँजियों' की स्थापना की गई। पंजाबी की 'मंजी' शब्द का अर्थ है—चारपाई। यह एक प्रकार से गुरु के प्रतिनिधि की गद्दी थी। डॉ० नारंग ने अपनी पुस्तक 'ट्रांसफरमेशन ऑफ सिखिज़्म' में लिखा है कि 'मंजियों' के स्थापित करने के उद्यम ने इस आंदोलन के मंदिर की नीवों को बहुत पक्का कर दिया।"

चतुर्थ गुरु, गुरु रामदास ने अमृतसर नगर की स्थापना करके इस आन्दोलन को एक केंद्रीय-स्थान प्रदान किया।

सिख आंदोलन में गुरु नानक एवं गुरु गोबिंद सिंह के अतिरिक्त सर्वाधिक योगदान पंचम गुरु, गुरु अर्जुन देव का है। यहाँ से यह आंदोलन एक नया स्वरूप ग्रहण करने लगता है। इसके पूर्व तक मुगल शासन से इस आंदोलन का प्रत्यक्ष विरोध प्रारम्भ नहीं हुआ था। परन्तु गुरु अर्जुन के समय तक इस आंदोलन का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया था कि दिल्ली की मुगल शक्ति बहुत शंकित हो उठी थी। गुरु-गद्दी की मान-मर्यादा राज-शक्ति की बराबरी में आती जा रही थी। आखिर दिल्ली मुगल-शक्ति का पहला भारी प्रहार पंचम गुरु ने अपना बलिदान देकर झेला, और उस महा बलिदान के बाद सिख-आंदोलन के स्वरूप में जिस प्रकार का परिवर्तन शुरू हुआ, उसे अन्तिम रूप गुरु गोबिंद सिंह के हाथों प्राप्त हुआ।

सर जदुनाथ सरकार ने अपनी पुस्तक 'ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ औरंगज़ेब (पृ० 115) में लिखा है कि "औरंगज़ेब के शासन के पूर्व सिखों को कभी धार्मिक आधार पर दण्डित नहीं किया गया और जहाँगीर के समय उनका जो संघर्ष मुगल शासन से प्रारम्भ हुआ, उसका कारण पूर्णतया लौकिक था।" इसी क्रम में वे लिखते हैं कि "गुरु अर्जुन ने किसी दुर्बल क्षण में मुगल-सिंहासन के लिए जहाँगीर के प्रतिद्वन्द्वी खुसरो को आशीर्वाद दे दिया और कुछ धन भी उसे दिया। खुसरो के पराजित होने पर जहाँगीर ने राजद्रोह के आधार पर गुरु अर्जुन पर दो लाख रुपये का जुर्माना

कर दिया। लेकिन गुरु ने वह जुर्माना देने से साफ इन्कार कर दिया। इस पर उन्हें अनेक यातनाएँ दी गईं, जो उस युग में कर न देनेवालों को बहुधा दी जाती थीं, और उन्हीं यातनाओं के परिणामस्वरूप सन् 1606 ई० में लाहौर में उनकी मृत्यु हो गई।"

गुरु अर्जुन के बलिदान के सम्बंध में इतिहासकारों में यह भ्रम कहाँ से फैला, कहा नहीं जा सकता। जदुनाथ सरकार के अतिरिक्त अन्य अनेक इतिहासकारों ने भी इस घटना का उल्लेख इसी प्रकार किया है। लगता है उन्होंने जहाँगीर की आत्मकथा 'तुज़के-जहाँगीरी' का वह अंश नहीं पढ़ा जिसमें इस घटना का उल्लेख है और जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि खुसरो को आशीर्वाद देना अथवा उसकी आर्थिक सहायता करना तो मात्र एक बहाना था, वास्तव में तो उस कृत्य की पृष्ठभूमि में धार्मिक असहिष्णुता ही काम कर रही थी।

'तुज़के-जहाँगीरी' के इस फारसी अंश का भावानुवाद इस प्रकार है—

"गोइंदवाल में जो कि विवाह (व्यास) नदी के किनारे पर है पीरों और बुजुर्गों के भेष में अर्जुन नाम का एक हिंदू था। उसने बहुत-से भोले-भाले हिन्दू, बल्कि बेसमझ और मूर्ख मुसलमानों को भी अपने रहन-सहन का अनुगामी बनाकर अपनी बुजुर्गी और ईश्वर से निकटता का ढोल बहुत ऊँचा बजाया हुआ था। लोग उसे गुरु कहते थे। सभी ओर से फरेबी और फरेब के पुजारी उसके पास आकर उस पर पूरा विश्वास प्रकट करते थे। तीन-चार पीढ़ियों से उनकी यह दुकान गर्म थी। कितने समय से मेरे मन में यह विचार आ रहा था कि इस झूठ के व्यापार को बन्द करना चाहिए या उसे इस्लाम में लाना चाहिए। यहाँ तक कि इन्हीं दिनों में खुसरो यहीं से नदी पार हुआ। इस जाहिल और हकीर आदमी ने सोचा कि सदा उसके निकट रहे। उस स्थान पर जहाँ उसका निवास-स्थान था, खुसरो ने पड़ाव किया। यह उसे मिला और उसे कई पहले से तय की हुई बातें सुनाई और केसर से एक उँगली उसके मस्तक पर लगाई, जिसे हिन्दू तिलक कहते हैं और अच्छा सुगुन समझते हैं।

यह बात मेरे कान में पड़ी। पहले ही मैं इनके झूठ को अच्छी तरह जानता था। मैंने आज्ञा दी कि उसे हाज़िर किया जाए और उसके घर-द्वार तथा बच्चों को मुरतज़ा ख़ान को सौंप दिया जाए और उसकी धन-सम्पत्ति जब्त करके,

आज्ञा दी कि उसे डराएँ, मारें, सज़ा दें और यातना देकर उसकी हत्या कर दें।"

गुरु अर्जुन ने अपना बलिदान देकर भावी संघर्ष को एक आदर्श दे दिया था। ऐसे संघर्ष, जिनसे राष्ट्रों का सम्पूर्ण जीवन आन्दोलित हो उठता है, विजय के क्षणिक उन्माद की अपेक्षा बलिदान की गहरी संवेदना से शक्ति का उपार्जन कहीं अधिक करते हैं। गुरु अर्जुन ने जिस बलिदानी परम्परा का सूत्रपात्र किया था, आगे चलकर वही सिखों की गौरवशाली परम्परा बनी।

'ग्रंथ साहिब', जिसे आगे चलकर गुरु गोबिंद सिंह ने 'गुरुपद' पर प्रतिष्ठित किया, के संपादन का कार्य गुरु अर्जुन का सांस्कृतिक क्षेत्र में दिया हुआ एक चिरन्तन योगदान है।

पाँचवें गुरु ने बलिदान की परम्परा स्थापित की थी और छठे गुरु,—गुरु हरिगोबिंद ने सशस्त्र प्रतिरोध को जन्म दिया था। वस्तुतः सिख-आन्दोलन को राजनीतिक और सैनिक स्वरूप प्रदान करनेवाले गुरु हरिगोबिंद थे। उनके रहन-सहन क़ा ढंग परिवर्तित हो गया था। उन्होंने दो तलवारें धारण की थीं। एक 'मीरी' (राजनीतिक शक्ति) की प्रतीक थी, दूसरी 'पीरी' (आध्यात्मिक शक्ति) की।

मुगल-शक्ति से सशस्त्र संघर्ष का प्रारंभ शाहजहाँ के समय में हुआ। गुरु हरिगोबिंद ने चार बार मुगल सेनाओं से सफलतापूर्वक युद्ध किया था।

सातवें, गुरु हरिराय और आठवें,—गुरु हरिकृष्ण का समय आन्दोलन के पुनर्गठन का समय है। इसी समय दिल्ली के मुगल राज-सिंहासन पर औरंगज़ेब को अधिकार प्राप्त हुआ था। नवें गुरु-गुरु तेगबहादुर से बलिदान और सशस्त्र संघर्ष का जो दौर आरम्भ हुआ, फिर वह लगभग एक शताब्दी की पूरी परिधि में छाया रहा।

2
परिस्थितिगत पृष्ठभूमि

यद्यपि किसी भी महापुरुष का जीवन किसी युग तक सीमित नहीं रहता, तथापि उसके कार्यों का उचित संदर्भ में मूल्यांकन करने के लिए युगीन परिस्थितियों का अध्ययन एवं विवेचन बहुत आवश्यक होता है। युगीन परिस्थितियों एवं मूल्यों को भुलाकर जब भी कभी किसी महापुरुष का महत्वांकन परिवर्तित समय के मूल्यों एवं आदर्शों के आधार पर किया जाता है तो भयंकर भूलें होती हैं।

गुरु गोबिंद सिंह का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपने युग की राजनीतिक परिस्थिति से प्रभावित है। उनके काव्य की अन्तःप्रेरणा भी इससे पर्याप्त रूप से प्रभावित हुई है। गुरु नानक ने भी अपनी वाणी में देश की राजनीतिक स्थिति का पर्याप्त वर्णन किया है। बाबर के आक्रमण से उत्पन्न स्थिति का वर्णन करते हुए वे अपने एक शिष्य लालो से कहते हैं—

"हे लालो, यह (बाबर) पाप की बारात लेकर काबुल से दौड़ा आया है और सबसे बलपूर्वक धन ले रहा है। शर्म और धर्म दोनों ही छिपकर खड़े हो गये हैं। प्रधानता झूठ को प्राप्त हो गई है। काज़ियों और ब्राह्मणों को कोई पूछता नहीं। विवाह के मंत्र शैतान पढ़ता है।"[1]

गुरु गोबिंद सिंह का जन्म जिस समय हुआ, उस समय मुग़ल शासन अपनी राजनीतिक शक्ति के चरमोत्कर्ष पर था। अपने पिता को बंदी बनाकर, अपने भाइयों

---

1. पाप की जंज ले काबुलहुँ धाइया जोरी मंगै दान वे लालो।
सरमु धरमु दुइ छप खलोए कूड़ फिरै परधानु वे लालो।
काजीआं बामणां की गल थाकी अगद पड़ै सैतानु वे लालो।
—तिलंग महला

को मौत के घाट उतारकर और स्वयं 'आलमगीर' की उपाधि ग्रहण कर औरंगज़ेब को मुग़ल भारत का साम्राट बने लगभग आठ वर्ष हो चुके थे।

औरंगज़ेब को लगभग 90 वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त हुई थी। तत्कालीन भारत के दो महान् पुरुषों-छत्रपति शिवाजी और गुरु गोबिंद सिंह-की सम्मिलित आयु उसकी आयु के लगभग बराबर थी। दस सिख गुरुओं में से अन्तिम पाँच-गुरु हरगोबिंद, गुरु हरिराय, गुरु हरिकृष्ण, गुरु तेग़बहादुर और गुरु गोबिंद सिंह उसके समकालीन थे। अन्तिम चार को उसने अपनी बादशाहत के दिनों में गुरु-गद्दी पर बैठे देखा था।

जिस समय औरंगज़ेब सिंहासनारूढ़ हुआ उस समय मुग़ल साम्राज्य सिंध के लहिरी बन्दरगाह से असम में सिलहट तक और अफ़गान प्रदेश के बिस्त किले से लेकर दक्षिण में औसा तक फैला हुआ था। अपनी उदार नीति, दूरदर्शी व्यवहार और सदाशयता के कारण अकबर देश में आन्तरिक शान्ति स्थापित करने में सफल हुआ था। यद्यपि जहाँगीर धार्मिक दृष्टि से अपने पिता-जैसा उदार नहीं था और अपने शासनकाल में उसने अपनी इस असहिष्णुता के कारण ही सिखों के पाँचवें गुरु-गुरु अर्जुन देव की हत्या भी करवा दी थी, परन्तु अपनी विलासी मनोवृत्ति के कारण उसने अपने आपको अधिकांशतः सुरा-सुंदरी और शिकार में ही व्यस्त रखा था।

औरंगज़ेब ने अपनी शासनकाल में जिस धार्मिक असहिष्णुता की नीति को अपनाया, उसका सूत्रपात वस्तुतः शाहजहाँ के शासनकाल में हो चुका था। सन् 1632 ई॰ में शाहजहाँ ने फर्मान निकाला था कि अब आगे से नये मंदिर नहीं बनवाये जायें और जो मंदिर निर्माणाधीन हों, वे तोड़ दिये जायें। गो-हत्या की मुमानियत भी, जो अकबर के समय से चली आ रही थी, सन् 1626 ई॰ के आसपास ढीली हो गई। इस धार्मिक नीति के परिणामस्वरूप मुग़ल सत्ता के प्रति हिंदुओं का राजनीतिक विरोध शाहजहाँ के काल में ही प्रारंभ हो गया था, जिसका चतुर्मुखी विस्फोट औरंगज़ेब के शासनकाल में हुआ।

भारत में शताब्दियों से स्थापित तुर्क-पठान-मुग़ल राज्य की नीतियों के विरुद्ध सभी मोर्चों पर लोगों का प्रभावशाली और सुनियोजित विरोध सर्वप्रथम सिख गुरुओं के नेतृत्व में ही सामने आया। मनुष्य-मात्र की समता, एकेश्वर की सत्ता में विश्वास, मूर्तिपूजा के खंडन और स्वत्व के जागरण के संदेश द्वारा गुरु नानक उस सत्ता के विरुद्ध अपना परोक्ष विरोध प्रस्तुत कर चुके थे। भाई परमानन्द के शब्दों में—सदियों

की गुलामी के पीछे गुरु नानक पहले हिंदू थे जिन्होंने अन्याय और असमानता के विरुद्ध आवाज़ उठाई।[1]

गुरु गोबिंद सिंह का जन्म देश की उन राजनीतिक परिस्थितियों के बीच हुआ, जब अकबर द्वारा प्रस्थापित राजनीतिक शांति पूरी तरह नष्ट हो चुकी थी।

गुरु गोबिंद सिंह ने केवल 9 वर्ष की आयु में ही दिल्ली में अपने पूज्य पिता (गुरु तेग़ बहादुर) का बलिदान होते हुए देखा था। इस अबोध-सी लगनेवाली आयु में ही उन्होंने उस गुरु-गद्दी का गुरुतर भार सँभाला जो दिल्ली के मुग़ल-शासन की आँखों में काँटे की तरह खटक रही थी। देश के अनेक भागों में लोग उस अन्यायी शासन के विरुद्ध सिर उठा रहे थे। विशाल और शक्तिसम्पन्न मुग़लवाहिनी बड़ी क्रूरता से उन विद्रोहों का दमन कर रही थी।

उस समय पंजाब की राजनीतिक अवस्था देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक विषम थी। भारत का यह प्रदेश अन्य सभी प्रांतों के पहले ही पराजित हो चुका था। यह प्रदेश दो प्रबल राजधानियों, अर्थात् दिल्ली और काबुल के बीच में था। मुग़ल राज्य यहाँ अत्यन्त दृढ़ता के साथ जमा हुआ था।

राजनीतिक दृष्टि से यह युग घोर अव्यवस्था का युग था। शाही सैनिक तो जनता पर अत्याचार करते ही थे, बंजारों और पिंडारियों ने भी उनका जीवन दूभर कर रखा था। राजनीतिक काम से जाते हुए राजदूत भी रास्ते में पड़नेवाले गाँवों को उजाड़ते और नष्ट-भ्रष्ट करते जाते थे। भ्रष्टाचार की मात्रा सभी सीमाएँ पार कर गई थी।

धार्मिक अवस्था

अपने युग की धार्मिक अवस्था का वर्णन करते हुए गुरु नानक ने एक स्थान पर लिखा था—"कलियुग कटार के समान है, राजा कसाई हैं और उनके राज्य से धर्म पंख लगाकर उड़ गया है। चारों ओर असत्य की अमावस छाई हुई है, उसमें सत्य का चन्द्रमा कहीं दिखाई नहीं देता। जीव उस अँधेरे में सत्य की खोज करता हुआ भ्रमित घूम रहा है, अंधकार में उसे कोई मार्ग नहीं सूझता।"[2]

---

1. वीर बैरागी पृ॰ 11
2. कलि काती राजे कसाई धरमु पंख कर उडरिआ।
   कूड़ अमावस सचु चन्द्रमा दीसै नाही, कह चड़िआ।
   हउ भाल विकुन्नी होई आँधेरे राहु न कोई।

   —वार माझ

इस प्रकार उस युग में—जब चारों ओर धर्म का ढोल पूरे ज़ोर से पीटा जा रहा था, और धर्म के वास्तविक स्वरूप की हत्या को ही सबसे बड़ा धर्म समझा जा रहा था—धर्म की उदात्त भावना पूर्णरूप से लुप्त हो गई थी। नैतिक और बौद्धिक ह्रास अपने चरम पर था। धर्म के नाम पर अनेक विकृतियाँ ही अवशिष्ट रह गई थीं। अंधविश्वासों, रूढ़ियों का अनुसरण और बाह्याडंबरो का पालन ही धर्म की परिभाषा थी। ईश्वर और खुदा की प्रेरणामयी भावना के बजाय पण्डितों और मुल्लाओं का स्थूल और लौकिक अस्तित्व स्थापित हो गया था।

हिन्दुओं में भी धार्मिक दृष्टि से इस युग में दो वर्ग स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक वह जो राम और कृष्ण (विशेष रूप से कृष्ण) की सगुण उपासना में बड़े भक्ति-भाव से लीन थे। राजनीतिक दृष्टि से देश पर किसका शासन है और धार्मिक दृष्टि से उसकी क्या नीति है, ऐसे प्रश्न उसे व्याकुल नहीं करते थे। संसार को मायाजाल माननेवाले ऐसे भक्त-गण केवल हरि-भजन में व्यस्त थे और जनता में भक्ति-भावना का प्रचार कर रहे थे।

कृष्ण भक्ति की परम्परा नैतिक दृष्टि से भी बहुत नीचे गिर चुकी थी। भक्तिकालीन माधुर्य भक्ति की उदात्त भावनाएँ और उसके सूक्ष्म तत्व इस समय तक पूरी तरह तिरोहित हो चुके थे। लीला-पुरुष श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य भक्ति अब राधा-कृष्ण के स्थूल, मांसल शृंगार का रूप धारण कर चुकी थी।

निर्गुण भक्ति-परम्परा के अनुयायी अपेक्षाकृत अधिक संगठित, संयमी और अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति अधिक सचेत थे। सत्रहवीं शताब्दी में सतनामी, नारायणी और सिख पंथ उत्तर-भारत में प्रमुख थे। ये पंथ भेदभाव से रहित होने के कारण संगठित थे। इन पंथों के आचार्य या गुरु ऐसे थे जो संयत रूप से सांसारिक जीवन व्यतीत करते थे। घर-बार छोड़कर जंगल में धूनी रमाना इन्हें प्रिय नहीं था। वे विवाहित होते थे और स्त्री-पुरुषों को समान रूप से उपदेश देते थे। समाज के निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखने के कारण इनमें मिथ्याचार और बाह्याडंबर अधिक नहीं था, इसीलिए उपेक्षित जनता पर इनका प्रभाव भी अधिक था।

इन सभी पंथों में सिख-पंथ कहीं अधिक प्रभावशाली, व्यापक, संगठित और जीवंत था। यद्यपि गुरु-गद्दी की सम्पन्नता और वैभव को देखकर गुरु-परिवारों में काफी ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न होना प्रारम्भ हो गया था, फिर भी ऐसे स्वार्थी तत्व गुरु-गद्दी पर अधिकार जमाने में कभी सफल नहीं हो सके। गुरु नानक ने अपने

दोनों पुत्रों में से किसी को अपना उत्तराधिकारी न बनाकर अपने एक प्रिय शिष्य को वह स्थान दिया था। द्वितीय गुरु अंगददेव ने भी अपनी संतान की अपेक्षा अपने शिष्य अमरदास को अपना उत्तराधिकारी बनाया। चौथे गुरु, गुरु रामदास के समय में गुरु-गद्दी पैतृक हो गई, फिर भी गुरु अपने पुत्रों में 'ज्येष्ठ' पुत्र का चुनाव न कर 'योग्य' पुत्र का चुनाव करते रहे। गुरु अर्जुन, गुरु रामदास की तीसरी संतान थे और सप्तम गुरु हरिराय ने अपने ज्येष्ठ पुत्र रामराय की अपेक्षा अपने कनिष्ठ पुत्र हरिकृष्ण को अपना उत्तराधिकारी बनाया था।

सिख गुरुओं का प्रभाव उत्तर-पश्चिम में ईरान तक, पूर्व में असम तक, दक्षिण में महाराष्ट्र और पश्चिम में गुजरात तक फैला हुआ था; और हर स्थान पर उनकी 'संगतें' सक्रिय रूप में काम करती थीं।

सामाजिक स्थिति

देश का सामाजिक जीवन उन दिनों दो वर्गों में बँटा हुआ था। एक वर्ग उनका था जो राजे थे, शासक थे; अमले, करिन्दे या दरबारी थे। इनका जीवन सुख, विलास और आनन्द से व्यतीत होता था। उनमें शिक्षा भी थी, संस्कृति भी और धन-ऐश्वर्य भी था। राज्य का संबंध इसी वर्ग से रहता था। दूसरा वर्ग सामान्य जनता का था, जो परिश्रम करके अपना जीविकोपार्जन करता था और इन विलासियों के आराम के लिए धन भी देता था। किन्तु जैसे पहले वर्ग को दूसरे वर्ग के लिए कोई दर्द नहीं था, वैसे ही जनता के हृदय में भी इस वर्ग के लिए कोई सहानुभूति नहीं थी। 'कोउ नृप होय हमहिं का हानी', यह बात तुलसीदास ने बाद में लिखी, किन्तु यह भावना यहाँ की जनता में पहले से ही विद्यमान थी।

हिंदुओं का सामाजिक जीवन छोटी-छोटी जातियों में बुरी तरह बँटा हुआ था। हर एक जाति का व्यक्ति अपने को किसी दूसरी जाति में ऊँचा समझकर मिथ्या अहंकार में डूबा रहता था। गुरु नानक ने इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर कहा था, "ऐसे व्यक्ति इस संसार में विरले ही हैं जिन्हें परखकर खजाने में रखा जा सके, जो जाति-वर्ण के अभियान से ऊपर उठे हुए हों और मोह तथा लोभ से अछूते हों।" परिणाम यह हुआ कि एक जाति के लोग दूसरी जाति से घृणा करने लगे।

शाहजहाँ का राज्यकाल वैभव और ऐश्वर्य से लबालब था। बर्नियर, ट्रेवर्नियर, मैनूची आदि विदेशी यात्री सम्राट के दरबार का ऐश्वर्य देखकर स्तब्ध रह गये थे। मुग़ल-अन्तःपुर का वैभव इन्द्र-भवन के काल्पनिक वैभव को भी मात करता था। दरबारी अमीरों और कर्मचारियों का जीवन भी कम ऐश्वर्यशाली नहीं था।

3
जीवनवृत्त

गुरु गोबिंद सिंह का सम्पूर्ण जीवन जितनी विविधता और विशालता से भरा हुआ है, उतनी ही विविधता और विशालता उनके जन्मस्थान, कार्यक्षेत्र और देहावसान को लेकर दिखाई देती है। जन्मस्थान पूर्वी भारत पटना में, कार्यक्षेत्र उत्तर-पश्चिमी के पहाड़ी अंचलों में और देहावसान दक्षिण (महाराष्ट्र) में। उनके जीवन-कार्यों की भाँति प्रकृति ने मानो उनकी जीवनावधि को भी सम्पूर्ण भारतीयता का प्रतीक बना दिया था।

यह सम्वत् 1723 विक्रमी की पोष सुदी सप्तमी (26 दिसम्बर 1666) थी, जब गुरु गोबिंद सिंह का जन्म हुआ। उनके पिता गुरु तेग़बहादुर अपनी पत्नी गूजरी तथा कुछ शिष्यों सहित उन दिनों पूर्वी भारत की यात्रा कर रहे थे। अपनी गर्भवती पत्नी और कुछ शिष्यों को पटना में छोड़कर गुरु तेग़बहादुर असम की ओर चले गये। वहीं उन्हें पुत्र-प्राप्ति का शुभ समाचार प्राप्त हुआ।

गुरु गोबिंद सिंह ने अपने जन्म का वर्णन अपनी आत्मकथा 'विचित्र नाटक' के सप्तम अध्याय में इस प्रकार किया है—

मुर पित पूरब कियसि पयाना।
भाँति-भाँति के तीरथ नाना।।
जब ही जात त्रिवेणी भये।
पुन्न दान दिन करत बितये।।
तहीं प्रकाश हमारा भयो।
पटना शहर बिखै भव लयो।।

गुरु तेग़बहादुर अपने परिवार को पटना की सिख-संगत के संरक्षण में छोड़कर पूर्व की ओर चले थे। मुंगेर से वे ढाका गये, जो मुग़ल-राज्य का सम्पत्ति-भण्डार होने के साथ ही उस समय सिख मत का भी एक प्रमुख केन्द्र था।

उन दिनों सिख गुरुओं का संदेश पूर्वी भारत में बहुत दूर तक पहुँच चुका था। श्री जी॰ बी॰ सिंह ने अपने एक लेख 'सिख रेलिक्स इन ईस्टर्न बैंगाल'[1] में लिखा है कि पूर्वी भारत में सभी ओर समृद्ध सिख-संगतों और मठों का जाल-सा फैल गया है। मुग़लों के शासन-काल में पश्चिम में राजमहल से लेकर पूर्व में सिलहट तक और उत्तर में ढुबरी से लेकर दक्षिण में फतह कचहरी तक कठिनाई से ही कोई ऐसा प्रमुख स्थान होगा जहाँ कोई सिख-मन्दिर न हो या किसी सिख-संन्यासी ने अपने-आप को बसा न लिया हो और अपने चारों ओर श्रद्धालुओं की एक अच्छी संख्या न एकत्र कर ली हो। शाहजहाँ के समय में यह आन्दोलन सन्दीप आदि कुछ द्वीपों में भी फैल गया था। ये संगतें केवल पूजा-स्थल ही नहीं थीं, वरन् मार्ग की धर्मशालाओं का उपभोगी कार्य भी करती थीं। वहाँ निर्धन तथा साधनहीन यात्रियों के लिए भोजन तथा निवास की व्यवस्था की जाती थी।

पूर्वी भारत में सिख गुरुओं के संदेश को व्यापक रूप से फैलाने में अलमस्त और नाथे साहब नामक दो प्रचारकों का विशेष रूप से उल्लेख किया जाता है।[2] ढाका इस क्षेत्र की 'हजूरी संगत; या प्रधान संगत थी, जिसके अधीन अन्य संगतें थीं। इन संगतों में स्थानीय लोगों के अतिरिक्त पंजाब और सिंध के सिख व्यापारियों की एक बड़ी संख्या सदैव रहती थी। यहाँ के शिष्य समय-समय पर अपनी बहुमूल्य भेंटें गुरु के पास पंजाब भेजा करते थे।

गुरु तेग़बहादुर ढाका में ही थे जब उन्हें पटना में अपने पुत्र के जन्म का समाचार प्राप्त हुआ था। वहाँ से उन्होंने पटना की संगत को अपने परिवार की भली प्रकार देख-भाल करने के लिए धन्यवाद भरा एक पत्र भी लिखा था।

फरवरी सन् 1669 में रंगामती में उनकी भेंट मिर्ज़ा राजा जयसिंह के पुत्र राजा रामसिंह से हुई, जो मुग़लों की ओर से असम के राजा के विरुद्ध सैनिक अभियान का नेतृत्व कर रहे थे। राजा रामसिंह को उन लोगों का परिणाम ज्ञात था जो उनके पूर्व इस प्रकार के अभियान में असम भेजे गये थे। उस प्रदेश की जलवायु और

---

1. ढाका रिव्यू (1915) में प्रकाशित।
2. तेजसिंह गंडा सिंह--ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ सिख्स, पृ॰ 54

असमवासियों की जादू-टोने की बहुप्रचारित शक्ति के कारण उन्हें अपने अभियान की सफलता की आशा बहुत कम थी। उन्हें विश्वास था कि मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब ने उन्हें समाप्त करने के लिए ही असम की ओर भेजा है। ऐसी स्थिति में राजा रामसिंह ने गुरु तेग़बहादुर से उनकी आध्यात्मिक सहायता की याचना की। ऐसा लगता है कि गुरु तेग़बहादुर राजा रामसिंह और असम के अहोम राजा चक्रध्वज के बीच एक शान्तिपूर्ण समझौता कराने में सफल हो गये।

उत्तरी-पूर्वी भारत के विशाल भू-भाग की यात्रा करते हुए गुरु तेग़बहादुर ने अपनी आँखों से निरीह जनता पर होनेवाले अत्याचारों को देखा। उन्होंने यह भी देखा कि मुग़ल शासन की दमन-नीति के विरुद्ध विद्रोह की चिंगारियाँ जगह-जगह उठ रही हैं। दक्षिण में छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में मराठा शक्ति संगठित होकर मुग़ल सेनाओं से टक्कर ले रही थी। मथुरा के एक ज़मींदार गोकुल के नेतृत्व में उस प्रदेश के जाटों ने सन् 1669 में उस फौजदार और उसके सिपाहियों को मार डाला था, जिन्होंने मथुरा के मंदिरों को तोड़ा था। सन् 1671 में बुंदेलखण्ड के बुंदेलों ने छत्रसाल के नेतृत्व में मुगल-सल्तनत से टक्कर लेनी शुरू कर दी थी। सन् 1672 में दिल्ली के निकट नारनौल के सतनामी सम्प्रदाय के अनुगामियों ने मुगल-शासन के विरुद्ध इतना बड़ा विद्रोह किया कि उनके अद्भुत साहस को देखकर मुग़ल सैनिक उनमें दैवी शक्तियों का संदेह करने लगे और स्वयं औरंगज़ेब को, जो मुसलमानों का ज़िंदा पीर समझा जाता था (आलमगीर-ज़िंदापीर), अपने हाथों से दुआएँ और आयतें लिखकर शाही झंडों में टाँकनी पड़ीं।

परन्तु ये सभी चिंगारियाँ उभर रही थीं और बिखर रही थीं। मुग़लों के सत्ता-केन्द्र से दूर होने के कारण मराठों को तो अपने अभियान में कुछ सफलता मिल रही थी, परन्तु अन्य संघर्ष थोड़े-से प्रयत्न के बाद कठोरतापूर्वक दबा दिये गये थे।

गुरु तेग़बहादुर के पंजाब वापस लौटने के लगभग तीन वर्ष बाद पटना में छूटा उनका परिवार भी आनन्दपुर आ गया। इन तीन वर्षों में गुरु तेग़बहादुर ने आनन्दपुर को अनेक दृष्टियों से विकसित किया था और पंजाब के मालवा प्रदेश का विशेष दौरा करके वहाँ की जनता में चेतना उत्पन्न की थी।

तभी एक दिन उनके सामने एक स्थिति आ खड़ी हुई, एक ऐसा प्रश्न उभर आया जिसके पीछे एक महान निर्णय झाँक रहा था। कश्मीर के एक प्रमुख

संस्कृत-अध्ययन केन्द्र के प्राचार्य, मटन निवासी, पंडित कृपाराम के नेतृत्व में कश्मीरी पंडितों का एक शिष्टमंडल गुरु तेग़बहादुर से भेंट करने आनन्दपुर पहुँचा और कश्मीर के हिन्दुओं पर होनेवाले अत्याचारों की मार्मिक कहानी गुरु तेग़बहादुर को सुनाई। गुरु तेग़बहादुर ने औरंगज़ेब की इस नीति का प्रतिरोध करने का निश्चय कर लिया।

गुरु गोबिंद सिंह ने 'विचित्र नाटक' में अपने पिता के इस बलिदान का इन शब्दों में वर्णन किया है—

तिलक जंजू राखा प्रभु ताका।
कीनों बड़ों कलू महि साका।।
साधनि हेति इती जिनि करी।
सीसु दीया परू सी न उचरी।। 13 ।।
धरम हेत साका जिनि कीआ।
सीस दीआ परु सिररु न दीआ।।
नाटक चेटक किए कुकाजा।
प्रभु लोगन कह आवत लाजा।। 14 ।।
ठीकरि फोरि दिलीस सिरि, प्रभु पुर कियो पयान।
तेग बहादुर सी क्रिया, करी न किनहू आन।। 15 ।।
तेग बहादुर के चलत भयो जगत को सोक।
है है है सभ जग भयो जै जै जै सुरलोक।। 16 ।।

बलिदान की प्रतिक्रिया

अपने पिता के बलिदान के समय गुरु गोबिंद सिंह की आयु केवल 9 वर्ष थी। इस अल्पायु में ही गुरु-पद का गुरुतापूर्ण उत्तरदायित्व उनके कंधों पर आ गया। उनके सम्पूर्ण भावी जीवन, काव्य-रचना, पंथ-निर्माण आदि कार्यों में इस महत् बलिदान का व्यापक प्रभाव दृष्टिगत होता है। जिस उद्देश्य से गुरु तेग़बहादुर ने उस बलिदान को आमंत्रित किया था, वह उद्देश्य भी सफल हुआ। जन-साधारण में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई।

गुरु-पद की प्राप्ति

गुरु गोबिंद सिंह की आयु के प्रारंभिक 6 वर्ष पटना में ही व्यतीत हुए थे।

पटना नगर में आज भी उनके उस बाल-जीवन की स्मृतियाँ सुरक्षित हैं, जिसमें एक महान् राष्ट्रनायक एवं महान् साहित्यकार को मुखरित होना था। पंजाब आने पर अपने पिता का साथ उन्हें दो ढाई वर्ष तक ही प्राप्त हुआ। इस अल्पावधि में ही गुरु तेग़बहादुर ने उनकी शिक्षा-दीक्षा का पूरा प्रबन्ध कर दिया था। गुरु गोबिंद सिंह ने 'विचित्र नाटक' में इसका उल्लेख किया है।

पिता के बलिदान के बाद गुरु गोबिंद सिंह लगभग आठ वर्ष तक आनन्दपुर में रहे। इन आठ वर्षों का उनके भावी जीवन के निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन वर्षों में उन्होंने शास्त्र और शस्त्र दोनों प्रकार की शिक्षा से अपने को सुयोग्य बनाया।

इस वर्षों में अपनी व्यक्तिगत शिक्षा के साथ-ही-साथ उन्होंने अपनी शक्तियों को केन्द्रित किया। गुरु तेग़बहादुर के बलिदान के बाद गुरु गोबिंद सिंह और सम्पूर्ण सिख-समुदाय बड़ी कठिन स्थिति में आ पड़े थे।

पाँवटा की ओर

कुछ समय बाद गुरु गोबिंद सिंह निकट के ही एक पहाड़ी राज्य सिरमौर में चले गये। वहाँ उन्होंने यमुना के किनारे पाँवटा नामक स्थान पर अपना डेरा जमाया। वहाँ वे लगभग 3 वर्ष तक रहे।

पाँवटा-निवास के इन तीन वर्षों का गुरु गोबिंद सिंह के साहित्यिक जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। जिन थोड़ी-सी रचनाओं में उन्होंने रचना-काल और स्थान का उल्लेख किया है, उनमें 'कृष्णावतार' जैसी बृहत् रचना पाँवटा, में ही रची गई। 'कृष्णावतार' में दो स्थानों पर इसका स्पष्ट उल्लेख है। गोपी-विरह खण्ड में गोपी-उद्धव-संवाद अध्याय की समाप्ति पर उन्होंने लिखा।

> सत्रह के चवताल में सावन सुदि बुधवार
> नगर पाँवटा मों सु मैं रचियो ग्रन्थ सुधार।।

फिर सम्पूर्ण 'कृष्णावतार' की समाप्ति पर लिखा है—

> सत्रह से पैताल महि सावन सुदि थिति दीप।
> नगर पाँवटा सुभ करण जमना बहै समीप।
> दसम कथा भागौत की भाखा करी बनाइ।
> अवन वासना नाहि प्रभु धरम जुद्ध को चाइ।।

भंगाणी का युद्ध

अप्रैल सन् 1689 (वैशाख सम्बत् 1746 वि०) में गुरु गोबिंद सिंह को अपने जीवन का प्रथम युद्ध लड़ना पड़ा। गुरु गोबिंद सिंह ने 'विचित्र नाटक' और उनके दरबारी कवि सेनापति ने अपनी रचना 'गुरु शोभा' में इस युद्ध का कोई विशेष कारण नहीं दिया है। 'विचित्र नाटक' में माखो वाला (आनन्दपुर) से पाँवटा आना, वहाँ रहना और श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा फतेहशाह से युद्ध छिड़ने का वर्णन बहुत संक्षेप में दिया हुआ है—

> देस चाल हम ते पुनि भई। शहिर पाँवटा की सुधि लई।
> कालिन्दी तट करे विलासा। अनिक भाँति के पेख तमासा।
> तहिं के सिंघ घने चुनि मारे। रोझ रीछ बहु भाँति-विदारे।।

—अध्याय 8, छंद 2-3

'गुरु शोभा' में भी फतेशाह का अकारण ही गुरु गोबिंद से युद्ध करने का उल्लेख है—

> अनिक भाँति लीला तँह करी।
> फतेशाह सुनि के मनि धरी।।
> बहुत कोप मन माहिं बसायो।
> फौज बनाइ जुद्ध कै आयो।। 6 ।। 50 ।।

सिख-इतिहास लेखकों ने इस युद्ध के अनेक कारण दिये हैं। गुरु गोबिंद सिंह के पिता गुरु तेग़बहादुर ने पंजाब के पहाड़ी प्रदेश के एक राज्य कहिलूर के माखोवाल ग्राम को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया था। धीरे-धीरे वह स्थान सिखों का प्रमुख केन्द्र-स्थान बन गया। गुरु तेग़बहादुर के बलिदान के पश्चात् गुरु गोबिंद सिंह ने इसी स्थान को अपनी सामरिक तैयारियों तथा जातीय संगठन का केन्द्र बनाया। सिख-शक्ति का मुग़ल-राज्य से प्रकट विरोध गुरु तेग़बहादुर के बलिदान से स्पष्ट हो ही चुका था। गुरु गोबिंद सिंह का बढ़ता हुआ संगठन मुग़ल-राज्य से लोहा लेने की तैयारी का द्योतक था। यह बात कहिलूर तथा आसपास के अन्य राजाओं को भयंकर आशंका में डाल रही थी। वे गुरु की शक्ति पर अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे।

सभी इतिहासकारों ने यह बात भी स्पष्ट रूप से स्वीकार की है कि गुरु गोबिंद

सिंह के, निम्न कही जानेवाली जातियों को ऊपर उठाने के प्रयासों और उन्हें संगठन में सवर्ण कहे जानेवाले वर्गों के समकक्ष स्थान देने के क्रान्तिकारी प्रयत्नों ने परम्परागत जाति-अभिमानी पहाड़ी प्रदेश के राजपूत नरेशों को क्रूद्ध कर दिया था। डॉ० इन्दु भूषण बनर्जी ने लिखा है[1]—"वे (गुरु गोबिंद सिंह) एक ऐसे मत का प्रतिनिधित्व करते थे जो उदार विचारों का प्रचारक था और जिसके अधिकांश अनुगामी जाट थे, जिन्हें राजपूत छोटी जाति का समझते थे। राजनीतिक सुविधाओं, सामाजिक उच्चता और जाति-अभिमान आदि बातों ने मिलकर पहाड़ी राजाओं को गुरु के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए प्रेरित किया।"

यह वह कारण था जो पहाड़ी राजाओं की मानसिकता में क्रियाशील में था। तात्कालिक प्रत्यक्ष कारण कुछ अधिक स्पष्ट रहा होगा।

सिख इतिहास में यह बात सर्वत्र मिलती है कि कहिलूर का राजा भीमचन्द (जिसके राज्य में गुरु गोबिंद सिंह अपने शक्ति केन्द्र आनन्दपुर को स्थापित कर रहे थे) गुरु गोबिंद सिंह से बहुत खार खाने लगा था। उनकी बढ़ती हुई सैनिक शक्ति, अछूत जातियों का उत्थान, मुग़ल शासन के प्रकोप का भय आदि अनेक कारण इसकी पृष्ठभूमि में थे।

उन्हीं दिनों राजा भीमचंद के पुत्र अजमेरचंद का विवाह गढ़वाल के राजा फतेहशाह की लड़की से निश्चित हुआ। गुरु गोबिंद सिंह इस समय सिरमौर राज्य के पाँवटा नामक स्थान पर थे। इस विवाह के अवसर पर आसपास के अनेक पहाड़ी राजा अपनी सेनाओं सहित एकत्र हुए। विवाहोपरान्त उन्होंने गुरु गोबिंद सिंह पर आक्रमण करने की योजना बनाई। उन्हें राजाओं की इस योजना का पता लग गया था। इसलिए पाँवटा से 6 मील दूर सामरिक दृष्टि से उपयुक्त स्थान भंगाणी में, उन्होंने प्रतिरोध की तैयारी कर ली थी।

'विचित्र नाटक' में गुरु गोबिंद सिंह ने इस युद्ध का सजीव वर्णन किया है। परन्तु इस वर्णन में इतिवृत्तात्मकता का पूर्ण अभाव है, केवल युद्ध-क्रियाओं का ही अधिक वर्णन है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक विवरणों के संचय में यह अंश हमारी अधिक सहायता नहीं करता।

इस युद्ध में गुरु गोबिंद सिंह ने स्वयं भाग लिया। जब उनका वीर सेनापति संगो शाह, जिसे उन्होंने इस रचना में श्री शाह संग्राम नाम से संबोधित किया है,

---

1. एवोल्यूशन ऑफ खालसा-भाग-2, पृष्ठ 73

नजाबत खान को मारकर स्वयं युद्ध में शहीद हुआ, तब स्वयं उन्होंने अपना धनुष-बाण सँभाला। उनके बाणों ने युद्ध में अनेक 'खानों' को काले साँपों की तरह डँस लिया—

लखे शाह संग्राम जुज्झे जुझारं।
तवं कीट बाणं कमाणं सम्भारं।।
हन्यो एक खानं खियालं खतंगं।
डस्यो शत्रु को श्यामं भुजंगं।। 24 ।।

राजा हरीचंद से अपने युद्ध का वर्णन उन्होंने कुछ अधिक विस्तार से किया है। हरीचंद धनुर्विद्या में बड़ा कुशल था। उसकी कुशलता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

दुयं बान खैचे इकं बार मारे।
बली बीर बाजी न ताजी बिदारे।।
जिसे बान लागे, रहै न संभारं।
तनं बेधि कै ताहि मारं सिधारं।। 27 ।।

हरीचंद ने गुरु गोबिंद सिंह पर भी बाणों की वर्षा की। एक बाण से उसने उनके घोड़े को घायल किया, दूसरा बाण उनकी ओर चलाया जो उनके कान को स्पर्श करता हुआ निकल गया। तीसरा बाण उसने कमरबन्द पर मारा जो उसे छेदता हुआ चमड़ी को छू गया। इस बाण के लगने पर उनका क्रोध जाग्रत हुआ। उन्होंने बाण-वर्षा आरम्भ कर दी। शत्रु-सेना के लोग भागने लगे। स्वयं हरीचंद उनके बाण के प्रहार से युद्धभूमि में मारा गया।

अंत में पहाड़ी राजाओं की सेनाएँ मैदान छोड़कर भाग गईं। युद्ध जीतकर गुरु गोबिंद सिंह अपने स्थान कहिलूर (आनन्दपुर) में वापस आ गये।

आनन्दपुर आकर उन्होंने सामरिक तैयारी की दृष्टि से चार दुर्ग लोहगढ़, आनन्द गढ़, केशगढ़ और फतेहगढ़ बनवाए।

नादौन का युद्ध

नादौन के युद्ध का गुरु गोबिंद सिंह से सीधा सम्बन्ध नहीं था। यह युद्ध कहिलूर के राजा भीमचंद, उसके सहयोगी राजाओं और जम्मू के खूबेदार मियाँ खान के सेनानायक अलिफ खान के बीच हुआ था। अलिफ खान की सहायता कांगड़ा के

राजा कृपाल और बिझड़्याल के राजा दयाल ने की थी।

नादौन युद्ध का कारण

डॉ॰ गोकुलचंद नारंग[1] ने इस युद्ध के कारण का विश्लेषण करते हुए लिखा है—(भंगाणी के युद्ध के बाद) राजाओं ने गुरु के बढ़ते हुए बल को देख लिया और इस बात को पहचान लिया कि गुरु किस प्रकृति के बने हैं। तब वे लोग गुरु के महान् कार्य का गम्भीरता के साथ चिन्तन करने लगे। इन लोगों ने अब शीघ्रता से गुरु के साथ एक संधि कर ली, जिसके अनुसार उन्होंने उनके आक्रमणों और शत्रु-निवारक-युद्ध में साथ देने की प्रतिज्ञा की। अभी तक इन लोगों के लिए मुग़ल सत्ता पर स्वयं आक्रमण करने का समय नहीं आया था। किन्तु अब उन्होंने उस स्थिति को ग्रहण करने में क्षण-भर भी संकोच नहीं किया। गुरु के सहारे पर राजाओं ने मुग़ल सत्ता का प्रतिरोध प्रारम्भ कर दिया और बादशाह को वार्षिक कर देने से इन्कार कर दिया। बादशाह उस समय दक्षिण में था और गोलकुण्डा की छोटी, किन्तु स्वर्णमयी रियासत को अपने अधीन करने में लगा था। इस कारण कई वर्ष तक राजाओं के साथ किसी ने झगड़ा नहीं किया। किन्तु कुछ समय बाद उसने मियाँ खाँ, अलिफ खाँ और जुल्फिकार खाँ के अधीन एक बहुत बड़ी सेना विद्रोही राजाओं से पिछले वर्षों का कर उगाहने के लिए भेजी। नादौन के निकट घोर संग्राम हुआ, जिसमें राजाओं ने खालसा सेना की सहायता से बादशाही सेनाओं को पूरी तरह परास्त कर दिया।

अन्य ऐतिहासिक सूत्रों से भी यही पता चलता है कि पहाड़ी राजाओं के विद्रोह का दमन करने के लिए मुग़ल सेना आई और राजाओं की प्रार्थना पर गुरु गोबिंद सिंह ने ससैन्य उसमें भाग लिया। डॉ॰ इन्दुभूषण बनर्जी ने मैकालिफ का हवाला देते हुए लिखा है कि यह अधिक संभव लगता है कि औरंगज़ेब के राजधानी से अनुपस्थित होने के कारण मुगल राज्य प्रशासन में आई शिथिलता ने पहाड़ी राजाओं को कर देना बंद करने के लिए प्रोत्साहित किया। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाद की घटनाओं में गुरु ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। दिलावर ख़ान का पहला और दूसरा अभियान सीधे गुरु के ही खिलाफ था।

---

1. ट्रान्सफारमेशन ऑफ सिखिज़्म, पृ॰ 148

गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी आत्मकथा 'विचित्र नाटक' और सेनापति ने अपनी 'गुरु शोभा' में भी राजा भीमचंद के निमंत्रण पर युद्ध में सम्मिलित होने की बात लिखी है। इस युद्ध में पहाड़ी राजाओं और गुरु की सम्मिलित शक्ति के सम्मुख मुग़ल सेना को पराजित होना पड़ा। गुरु गोबिंद सिंह ने 'विचित्र नाटक' में लगभग 22 छन्दों में इस युद्ध का वर्णन किया है।[1]

सम्मिलित शक्ति से इस युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने पर भी राजाओं ने इस बात को अनुभव कर लिया कि वे बहुत देर तक मुग़ल-शक्ति का प्रतिरोध नहीं कर सकेंगे। इसलिए वे संधि की तैयारियों करने लगे। 'विचित्र नाटक' में गुरु गोबिंद सिंह ने इसका उल्लेख किया है, परन्तु मुग़ल-शक्ति के विरुद्ध इस युद्ध में सक्रिय सहयोग देने के कारण गुरु स्वयं गुग़ल-राज्य के विद्रोही घोषित हो चुके थे। गुरु की बढ़ती हुई शक्ति से औरंगज़ेब बहुत सशंक हो चुका था। अब लाहौर के सूबेदार दिलावर ख़ान ने अपने पुत्र रुस्तम ख़ान को सेना सहित गुरु पर आक्रमण करने के लिए भेजा। रात्रि को ख़ानज़ादे की सेना नदी के पार आ गई। गुरु गोबिंद सिंह को उनके एक नगर-रक्षक ने आकर यह समाचार दिया। युद्ध के नगाड़े बजा दिए गए और सम्पूर्ण आनन्दपुर नगर युद्ध के लिए तत्पर हो गया। संयोग से इस समय नदी में भयंकर बाढ़ आ गई और ख़ानज़ादे की सेना बुरी तरह उसकी लपेट में आ गई। परिणाम यह हुआ कि मुग़ल-सेना बिना युद्ध किये ही भाग खड़ी हुई।

हुसैनी युद्ध

रूस्तम ख़ान ने जाकर यह समाचार अपने पिता दिलावर ख़ान को दिया तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने अपने एक गुलाम सेनापति हुसैन ख़ान को गुरु जी पर

---

1. बहुत काल इह भाँति बितायो।
   मीयाँ खान जम्मू कह आयो।
   अलफ खान नादौण पठावा।
   भीमचन्द तन बैर बढ़ावा।। 1 ।।
   युद्ध काज नृप हमें बुलायो।
   आपि तवन की ओर सिधायो।।
   तिन कठ गढ़ नवरस पर बाँधो।
   तीर तुफंग नरेसन साँधों।। 2 ।।

   —विचित्र नाटक

आक्रमण करने के लिए भेजा। गुरु गोबिंद सिंह ने इस युद्ध का वर्णन 'विचित्र नाटक' में 'हुसैनी युद्ध' नाम से किया है। यह सेना पहाड़ी राजाओं से कर वसूल करने और गुरु गोबिंद सिंह की बढ़ती हुई शक्ति का दमन करने के लिए गई थी। हुसैन ख़ान की सेना ने इन राजाओं की सीमा में घुसते ही लूटमार शुरू कर दी। गढ़वाल का राजा मधुकरशाह पराजित हुआ। कहिलूरं का राजा भीमचंद और कटोच का राजा कृपालचंद नज़राना लेकर हुसैन ख़ान से जा मिले, परन्तु गुलेर के राजा गोपाल से नज़राने की रकम को लेकर संघर्ष प्रारम्भ हो गया। राजा गोपाल ने इस युद्ध में गुरु की सहायता चाही। गुरु जी ने संगतिया सिंह के साथ कुछ सेना उसकी सहायता के लिए भेज दी। युद्ध में हुसैन ख़ान पूरी तरह पराजित हुआ और युद्ध में मारा गया। गुरु गोबिंद सिंह का सेनापति संगतिया सिंह भी अपने कुछ साथियों सहित वीरगति को प्राप्त हुआ। इस प्रकार मुगल-सेना से गुरु जी का सीधा संघर्ष इस युद्ध में भी नहीं हुआ।

'विचित्र नाटक' में इस युद्ध का वर्णन विस्तार से दिया हुआ है। 69 छन्दों में युद्ध के कारण और युद्ध-प्रसंग का वर्णन किया गया है। अन्त में कवि ने ईश्वर को धन्यवाद दिया है कि उसने हमारी रक्षा की और जो घटा हमारे ऊपर छाई थी, वह अन्यत्र बरसकर चली गई।

मुअज़्ज़म का आगमन

पहाड़ी राजाओं के विद्रोह और गुरु गोबिंद सिंह की बढ़ती हुई शक्ति से पंजाब का सम्पूर्ण मुगल-शासन चौकन्ना हो चुका था। दक्षिण के युद्धों में व्यस्त औरंगज़ेब को ये समाचार नियमित मिल रहे थे। पंजाब में स्थिति सँभलती न देखकर उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र मुअज़्ज़म को, जो आगे चलकर बहादुरशाह के नाम से औरंगज़ेब का उत्तराधिकारी बना, भेजा। मुअज़्ज़म ने अपना डेरा तो लाहौर में डाला और अपने एक सेनापति मिर्ज़ाबेग को सेना सहित उपद्रवग्रस्त क्षेत्र की ओर भेज दिया। इस विशाल मुग़ल-सेना के आगमन से चारों ओर भय व्याप्त हो गया। गुरु गोबिंद सिंह के आश्रय में आए लोग भी भयभीत होकर पहाड़ों में छिपने लगे। मुग़ल-सेना ने विद्रोही पहाड़ी राज़ाओं को बुरी तरह कुचल दिया। गाँव के गाँव नष्ट कर दिए गए, परन्तु इस भयंकर विनाश से गुरु का केन्द्र आनन्दपुर पूरी तरह सुरक्षित रहा।

पंथ-निर्माण

गुरु गोबिंद सिंह के जीवन की पंजाब में शाहज़ादे के आगमन तक की, घटनाओं का मुख्य कथा-स्रोत हमें उन्हीं की रचना 'विचित्र नाटक' से प्राप्त होता चलता है। परन्तु आगे की घटनाओं के लिए अन्तःसाक्ष्य का यह प्रमुख सूत्र हमारे हाथ से छूट जाता है। 'विचित्र नाटक' की कथा यहीं समाप्त हो जाती है। इस रचना के अन्त में कवि कुछ रचनाओं को लिखने की ओर संकेत मात्र करता है।[1] अन्य घटनाओं के लिए हमें अन्य ऐतिहासिक सूत्रों एवं उनके दरबारी कवि सेनापति रचित 'गुरु शोभा' का सहारा लेना पड़ता है।

'विचित्र नाटक' का रचना-काल ग्रंथ में नहीं दिया गया है। भाई रणधीर सिंह[2] और डॉ॰ इन्दुभूषण बनर्जी[3] इस ग्रंथ का रचना-काल सन् 1698 ई॰ मानते हैं। गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी एक अन्य रचना 'रामावतार' में ग्रंथ का रचना-काल सम्वत् 1755 विक्रमी (सन् 1698 ई॰) दिया है। इसके पूर्व के कुछ वर्ष उनके जीवन में काफी तनावपूर्ण स्थिति में बीते थे। शाहज़ादे के पंजाब से चले जाने और नया संघर्ष प्रारम्भ होने के बीच का कुछ समय उनके जीवन में शांतिपूर्ण दिखाई देता है। इस काल में उन्होंने अनेक साहित्यिक रचनाओं को जन्म दिया होगा। इस कार्य का संकेत उन्होंने 'विचित्र नाटक' की अन्तिम पंक्तियों में किया भी है। इसलिए 'विचित्र नाटक' को 'रामावतार' के पूर्व की रचना माना जा सकता है। सम्भव है कि इसकी रचना सन् 1698 के प्रारम्भ में हुई हो।

गुरु गोबिंद सिंह के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य 'खा़लसा-निर्माण' का है। 30 मार्च सन् 1699 ई॰ को बैशाखी के दिन उन्होंने आनन्दपुर में अपने शिष्यों का एक विशाल सम्मेलन किया। सिख-गुरुओं का शिष्य-वर्ग सम्पूर्ण भारत और अफगानिस्तान-ईरान तक फैला हुआ था। इस सम्मेलन में दूर-दूर से आए लोगों का एकत्रीकरण हुआ।

गुरु गोबिंद सिंह के धार्मिक गुरु-जीवन को बड़ी सरलता से दो विभिन्न कालों

---

1. पहिले चंडी चरित्र बनाओ। नख सिख से क्रम भाख सुनाओ।
   छोर कथा तब प्रथम सुनाई। अब चाहत फिर करों बड़ाई।। 11 ।।
   —विचित्र नाटक, पन्द्रहवां अध्याय
2. शबदि मूरति, पृ॰ 23
3. एवोल्यूशन ऑफ खालसा, भाग-2, पृ॰ 172

में विभाजित किया जा सकता है, जिनमें उन्होंने कुछ भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति की। केशगढ़ (आनन्दपुर) में सन् 1699 ई० में आयोजित विशाल सम्मेलन और 'पहुल'[1] के प्रारम्भ को उनके जीवन का एक मोड़ मानना चाहिए। इस प्रकार दोनों कालों को 'पूर्व खालसा' और 'उत्तर खालसा' में विभाजित किया जा सकता है। 'पूर्व खालसा' काल में उनका उद्देश्य पहाड़ी राजाओं के साथ बंधुत्व निर्माण और स्वयं को उनके समकक्ष प्रस्तुत करने का लगता है। जब ये राजा मुगल-राज्य के विरूद्ध विद्रोह के लिए खड़े हुए, उन्होंने उनके साथ अपनी पूर्ण सहमति प्रकट की और उस सांझे कार्य की पूर्ति के लिए जो कुछ भी किया जा सकता था, किया। परन्तु उनमें और पहाड़ी राजाओं में आधारभूत अन्तर था। इसलिए जब पहाड़ी राजाओं का विद्रोह पूरी तरह दबा दिया गया और वे मुग़ल शासन के फिर से भक्त बन गए, तब गुरु जी ने अपने आपको सबसे अलग पाया। शाहज़ादे के रवैए ने निस्सन्देह उन्हें कुछ अस्थाई अवकाश दे दिया, परन्तु युद्ध की आग कभी भी भड़क सकती थी। उस स्थिति में वे अपने और अपने शिष्यों के अतिरिक्त और किसी पर निर्भर नहीं रह सकते थे। इसलिए वे तुरन्त अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने और अपने शिष्यों में एक सैद्धांतिक परिवर्तन लाने में व्यस्त हो गए। उनका यह मार्ग बाह्य सहायता-रहित अपने बल पर स्थिति का सामना करने वाला था और इसी से 'खालसा' अस्तित्व में आया।

गुरु गोबिंद सिंह जानते थे कि मुग़ल शासन से सशस्त्र संघर्ष निश्चित है। सशस्त्र संघर्ष तो उनके पितामह छठे गुरु, गुरु हरिगोबिंद के समय से ही प्रारंभ हो गया था। सिख-गुरुओं ने लोगों में आध्यात्मिक बल भरा था। और जिस जाति में आध्यात्मिक शक्ति का संचार हो जाए, वह लौकिक अत्याचारों एवं अन्यायों को भी अधिक समय तक नहीं सहती। परिणामस्वरूप प्रतिरोध प्रारम्भ होता है, बलिदान दिये जाते हैं और बलिदान देती हुई जाति अपने स्वरूप की रक्षा के लिए शास्त्र उठाने पर बाध्य हो जाती है। गुरु नानक से लेकर गुरु गोबिंद सिंह तक का सिख गुरुओं का इतिहास इसी सहज प्रक्रिया की कहानी है।

गुरु गोबिंद सिंह जानते थे कि भावी संघर्ष में तन, मन और धन से उनका साथ देनेवाला वर्ग कौन-सा होगा। समाज का विशिष्ट वर्ग कभी भी क्रान्ति का साथी नहीं बनता। उल्टे, यह वर्ग सदैव ऐसे प्रयासों का विरोध करता है, क्योंकि

1. सिख-धर्म में दीक्षित करने की विशेष संस्कार-विधि

किसी भी प्रकार के संघर्ष से उसे अपनी विशेष स्थिति के छिन जाने का डर बना रहता है। क्रान्ति का साथ सदैव निम्न वर्ग के सर्वहारा लोग ही दिया करते हैं। गुरु गोबिंद सिंह का पहाड़ी राजपूत राजाओं द्वारा किया हुआ सतत विरोध विशिष्ट वर्ग की प्रतिक्रिया का ही प्रतीक था। अब उनकी दृष्टि एकमात्र उस वर्ग पर थी, जिसे उनके आन्दोलन का वाहक बनना था।

बैशाखी के उस ऐतिहासिक अवसर पर हज़ारों शिष्यों के समुदाय के सामने हाथ में नंगी तलवार लेकर गुरु जी ने प्रश्न किया—"है कोई ऐसा जो धर्म के लिए अपने प्राण दे सके ?" यह सुनते ही सन्नाटा छा गया। उन्होंने अपनी बात दुबारा कही, सन्नाटा और गहरा हो गया। जब बड़ी तीखी आवाज़ में उन्होंने तीसरी बार अपनी बात दोहराई तो लाहौर के एक खत्री दयाराम ने अपने स्थान पर खड़े होकर कहा—"मैं प्रस्तुत हूँ।" वे उसे साथ के खेमे में ले गये। लोगों ने 'खटाक' की तेज़ आवाज़ सुनी। खून से सनी हुई तलवार लेकर वे बाहर आये और अधिक गम्भीरता से बोले—"कोई और शिष्य है जो धर्म के लिए अपने-आपको प्रस्तुत कर सके ?"—इस पर हस्तिनापुर के एक जाट धर्मदास ने अपने-आपको प्रस्तुत किया। वे उसे भी साथ के खेमे में ले गये। लोगों ने उसी तरह 'खटाक' की तीखी आवाज़ सुनी। इसी प्रकार तीन और व्यक्तियों ने अपने आपको बलिदान के लिए प्रस्तुत किया—एक था द्वारका का एक धोबी मोहकमचन्द, दूसरा था जगन्नाथ पुरी का एक कहार हिम्मत राय और तीसरा था बीदर का एक नाई साहबचंद। यह एक परीक्षा थी। इस परीक्षा में देश के विभिन्न भागों से आए हुए ये पाँच अति साधारण व्यक्ति पूरी तरह सफल हुए थे।

गुरु जी ने इन पाँचों आत्मोत्सर्गियों को सुन्दर वस्त्रों से विभूषित किया और इन्हें 'पंज प्यारे' कहकर संबोधित किया। वे उन पाँचों सिखों को जीता-जागता, स्वस्थ तथा प्रसन्न वदन अपने डेरे से निकालकर सभा के सामने ले आए। सभा में उपस्थित सभी लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सबसे कहा कि यह शकुन बड़ा शुभ है और खालसा की विजय निश्चय ही होगी।

गुरु गोबिंद सिंह के इन 'पंज प्यारों' में केवल एक खत्री था और चार ऐसे थे जिन्हें शूद्र समझा जाता था। अन्तिम तीन की गणना तो नीची जातियों में ही की जाती थी। परन्तु उन्होंने सर्वप्रथम इन्हें दीक्षित किया और सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह कि अपने-आपको उनसे दीक्षित कराया। वे करबद्ध उनके सामने खड़े हुए और उनसे प्रार्थना की कि वे उन्हें इस नये पंथ में उसी प्रकार दीक्षित करें

जैसे उन्होंने उन पाँच को किया है। उन्होंने 'खालसा' को 'गुरु' का स्थान दिया और 'गुरु' को 'खालसा' का।

इस प्रकार गुरु गोबिंद सिंह ने अपने पूर्व की नौ पीढ़ियों के सिख-समुदाय को 'खालसा' में परिवर्तित किया। उन्हीं के शब्दों में—"जो सत्य की ज्योति को सदैव प्रज्ज्वलित रखता है, एक ईश्वर के अतिरिक्त और किसी को नहीं मानता, उसी में उसका पूर्ण प्रेम और विश्वास है और भूलकर भी मृत व्यक्तियों की समाधियों-दरगाहों पर नहीं जाता। ईश्वर के निश्छल प्रेम में ही उसका तीर्थ, दान, दया, तप और संयम समाहित है, इस प्रकार जिसके हृदय में पूर्ण ज्योति का प्रकाश है, वह पवित्र व्यक्ति की 'खालसा' है।"[1] पन्द्रह दिन में ही आनन्दपुर के लगभग अस्सी हज़ार लोग एकत्र हुए, जिन्हें उन्होंने इस नये मार्ग पर दीक्षित किया।[2] उन्होंने ऊँच-नीच, जाति-पाँति का भेद नष्ट किया और सबके लिए समानता की घोषणा की। उन्होंने सबको आज्ञा दी कि अपने नाम के साथ 'सिंह' शब्द का प्रयोग करें।[3] इस प्रकार गुरु ने अपने विनीत शिष्यों को शेर बना दिया और क्षण-भर में उनका स्थान भारतवर्ष की सर्वोत्कृष्ट तथा सबसे अधिक वीर जाति के समान ऊँचा उठा दिया, क्योंकि उस समय तक केवल राजपूत ही अपने नामों के साथ 'सिंह' का प्रयोग करते थे।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार जे० डी० कनिंघम ने लिखा है कि गुरु गोबिंद सिंह एक प्रखर तत्ववेत्ता थे और वे इस बात को खूब समझते थे कि लोगों की कल्पना-शक्ति से किस प्रकार लाभ उठाया जा सकता है। वे कतिपय बाह्य क्रियाओं तथा चिह्नों की जादूभरी शक्ति को अच्छी तरह पहचानते थे और मानते थे कि मनुष्यों के हृदयों पर प्राय: उनके बाहरी स्वरूप के बदल जाने का कितना अधिक प्रभाव पड़ता है। प्रतिज्ञाओं तथा प्रणों, तपों तथा यम-नियमों और शक्ति के उपासकों के तिलक तथा वैष्णवों की तुलसी-माला आदि साम्प्रदायिक चिह्नों से लोगों के ऊपर

---

1. जागत जोत जपै निस बासर एक बिना मन नैक न जाने।
   पूरक प्रेम प्रतीत सजै व्रत गोर मड़ी मट भूल न मानै।।
   तीर्थ दान दया तप संजम एक बिना नह एक पछानै।
   पूरन जोत जगै घट मैं तब खालस ताहि नखालस जानै।। 2 ।।
   –33 सवैया–दशम ग्रंथ, पृ० 712
2. डॉ० सैयद मुहम्मद लतीफ कृत 'हिस्ट्री ऑफ पंजाब' पृ० 263
3. इसी समय स्वयं गुरु जी भी गोबिंद राय से गोबिंद सिंह बने।

जो प्रभाव पड़ता है, उसका यही भेद है। यही हिन्दुओं के उपनयन और ईसाइयों के बपतिस्मे का भेद है। यही गुरु गोबिंद सिंह के चलाए हुए दीक्षा-संस्कार 'पहुल' का वास्तविक तात्पर्य था।

गुरु गोबिंद सिंह ने सिखों में यह विश्वास उत्पन्न किया कि वे लोग ईश्वरीय कार्य को सम्पन्न करने के लिए उत्पन्न हुए हैं। उन्होंने एक नया जयघोष दिया—

वाहिगुरु जी का खालसा,
वाहिगुरु जी का फतेह।

(खालसा ईश्वर का है और ईश्वर की विजय सुनिश्चित है।)

डॉ॰ गोकुलचंद नारंग के शब्दों में—"किसी व्यक्ति में इस बात का दृढ़ विश्वास होना कि वह परमात्मा का विशेष उपकरण है तथा इस विश्वास से उत्पन्न हुई श्रद्धा, ये दोनों विजय-प्राप्ति की सबसे पक्की गारण्टी है और गुरु ने अपने अनुयायियों को यह गारण्टी प्रदान की।"[1]

अपने इस अभियान में गुरु गोबिंद सिंह को सामान्य जनता का पूरा सहयोग मिला। परन्तु ऊँची कही जानेवाली जातियों का उन्हें विरोध भी सहन करना पड़ा। छुआछूत से रहित, ऊँच-नीच के भेद-भाव से परे उनके सामाजिक संगठन को कथित ऊँची जातियों के लोग सहन नहीं कर सके। पहाड़ी राज्यों के राजपूत राजाओं का गुरु जी से विरोध बहुत कुछ इस भाव से प्रेरित था, इस बात का संकेत इसके पूर्व भी दिया जा चुका है।

'पहुल' संस्कार में सभी व्यक्ति उस जल को चखते हैं, जिसे एक विशेष प्रक्रिया के पश्चात् 'अमृत' नाम से पुकारा जाता है। इस प्रणाली का ब्राह्मणों और खत्रियों ने विरोध किया था, इस बात का संकेत गुरु गोबिंद सिंक के दरबारी कवि 'सेनापति' ने भी दिया है।[2] गुरु गोबिंद सिंह ने स्वयं अपनी रचनाओं में इस विरोध का उल्लेख किया है। किन्हीं मिश्र जी को संबोधित करते हुए दो-तीन पद 'दशम

1. ट्रान्सफारमेशन ऑफ सिखिज़्म, पृ॰ 137
2. करि पहुल सब संगति चाखी। पाँच-पाँच सिख कीए साखी।
खत्री ब्रह्मण दुह रहै निहारा। उन अपने मन माहि बिचारा।। 5 ।। 20 ।।
ब्रह्मण होईकै भदर न कीजै। जग में सोभ कवन बिधि लीजै।
इस बिधि अनक भरम भरमाने। करनहार के बचन भुलाने।। 6 ।। 202 ।।
गुरु शोभा पृ॰ 26

ग्रन्थ' में संगृहीत हैं। इन पदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मिश्र जी ने गुरु गोबिंद सिंह द्वारा निम्न जातियों को अपने संगठन में इतना उच्च स्थान देने का विरोध किया, साथ ही उनके इस कार्य पर अपना गहरा रोष प्रकट किया। मिश्र जी को सम्बोधित करते हुए गुरु गोबिंद सिंह ने इन छोटी समझी जानेवाली जातियों से बने अपने सिखों की प्रशंसा करते हुए कहा—

> जुद्ध जिते इनही के प्रसादि इनही के प्रसादि सु दान करे।
> अघ अउघ टरै इनही के प्रसादि इनही की कृपा पुन धाम भरे।।
> इनही के प्रसादि सु बिदिया लई इनही की कृपा सभ सत्रु मरे।
> इनही की कृपा से सजे हम हैं, नहि मो से गरीब करोर परे।।
>
> —**दशम ग्रंथ, पृष्ठ 716-17**

संसार के शायद ही किसी महापुरुष ने अपने अनुयायियों की महत्ता प्रदर्शित करते हुए इतनी विनम्रता का परिचय दिया हो।

दूसरे छंद में वे कहते हैं—

> सेव करी इनही की भावत अउर की सेव सुहात न जी को।
> दान दियो इनही को भलो अरू आन को दान न लागत नीको।।
> आगै फलै इनही को दयो जग मे जसु अउर दयो सभ फीको।
> मो गृह मो तन ते मन ते सिर लउ धन है सब ही इनही को।। 3 ।।
>
> —**दशम ग्रंथ, पृष्ठ 717**

गुरु गोबिंद सिंह के इन विचारों को जानकर मिश्र जी बहुत छटपटाये और सूखे तिनके की तरह क्रुद्ध होकर जलने लगे। जाति-पाँति और ऊँच-नीच की भावना पर आधारित समाज-व्यवस्था ही उनकी आजीविका का साधन थी। अपनी 'रोजी' छिनती जानकर वे रो दिये[1]—

डॉ० बनर्जी के अनुसार उस युग के एक संवाददाता ने लिखा है कि जाति और वंश को भूल जाने का जो उपदेश गुरु ने दिया, उसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण और खत्री उस सभा को छोड़कर चले गये। इतना होने पर भी लगभग बीस हज़ार लोगों ने उसी समय अपने को 'खालसा' पंथ में दीक्षित होने के लिए प्रस्तुत किया।[2]

---

1. चटपटाइ चित मैं जर्‌यो त्रिण ज्यों क्रुदत होई।।
2. एवोल्यूशन ऑफ खालसा, पृ० 120

कनिघंम ने लिखा है—"सिखों के अन्तिम गुरु ने पराजित लोगों की सुप्त शक्तियों को जगाया और उन्नत करके उन्हें सामाजिक स्वातंत्र्य और राष्ट्रीय प्रभुता से भर दिया जो नानक द्वारा बताए पवित्र भक्तिभाव से जुड़ा हुआ था।[1]

'खालसा'–निर्माण की प्रतिक्रिया

'खालसा'—निर्माण की चारों ओर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। 'पहुल' संस्कार में दीक्षित होने के पश्चात् आनन्दपुर में एकत्र हुए सिख अपने-अपने घरों को लौटकर नवपंथ का प्रचार करने लगे। सरहिंद और लाहौर के मुग़ल सूबेदार और पहाड़ी प्रदेशों के राजा इससे बहुत चौकन्ने हुए। इनमें सबसे अधिक चिंता कहिलूर के राजा को हुई, जिसके क्षेत्र में आनन्दपुर पड़ता था।

कहिलूर के राजा ने हंडूर के राजा की सम्मति से एक पत्र गुरु गोबिंद सिंह को भेजा, जिसमें लिखा कि या तो वे आनन्दपुर की वह भूमि छोड़कर कहीं और चले जाएं अथवा उसका किराया दें। गुरु गोबिंद सिंह ने उत्तर दिया कि यह भूमि मेरे पिता ने पूरा मूल्य देकर खरीदी है। इस विवाद को लेकर संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

पहाड़ी राजाओं ने पैंदे ख़ान और दीनाबेग नामक दो पंचहजारी मुग़ल सरदारों की सहायता से गुरु जी पर आक्रमण किया। पहाड़ी राजाओं और मुग़ल सरदारों की सम्मिलित शक्ति लगभग 20 हज़ार योद्धाओं की थी। गुरु गोबिंद सिंह के पास उस समय केवल 8 हजार योद्धा थे। शत्रु सैनिकों ने आनन्दपुर के चारों ओर घेरा डाल दिया और भयानक संघर्ष प्रारंभ हो गया।

पहाड़ी राजाओं की ओर से राजा भीमचंद, राजा अजमेरचन्द, राजा जसवालिया, राजा केसरीचंद, राजा घमंडी सिंह आदि अपनी सेना का संचालन कर रहे थे। गुरु जी की ओर से शेर सिंह और नाहर सिंह लौहगढ़ की रक्षा कर रहे थे। उदय सिंह फतेहगढ़ की रक्षा कर रहा था। स्वयं गुरु गोबिंद सिंह तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र अजीत सिंह खालसा सेना का संचालन कर रहे थे।

पहले दिन के युद्ध में कुँवर अजीत सिंह के बाण से राजा केसरीचंद घायल हो गया और जगतुल्लह नामक मुग़ल सरदार उदय सिंह के हाथों मारा गया।

दूसरे दिन शत्रु-सेना ने आनन्दपुर का मुख्य द्वार तोड़ने के लिए एक हाथी को शराब पिलाकर मस्त किया और उसके मस्तक पर बर्छी-भाले आदि लगाकर

---

1. कनिंघम, हिस्ट्री ऑफ सिख पृ० 84

उसे आगे भेजा। गुरु गोबिंद सिंह ने अपने एक सैनिक विचित्र सिंह को हाथी का सामना करने के लिए आगे भेजा। विचित्र सिंह के बर्छे के एक तीक्ष्ण प्रहार से हाथी चिंघाड़ता हुआ वापस मुड़ा और उसने अपनी ही सेना के बहुत-से सैनिकों को रौंद डाला।

इस युद्ध में गुरु गोबिंद सिंह के हाथों मुग़ल सेनापति पैंदे खान मारा गया तथा दीना बेग बुरी तरह घायल होकर युद्धभूमि में भाग गया। उदय सिंह ने राजा केसरीचंद का सिर काट लिया। अन्त में शत्रु-सेना साहस छोड़कर युद्ध-भूमि से भाग खड़ी हुई। विजयी खालसा सेना ने शत्रुओं का रोपड़ तक पीछा किया।

यह युद्ध सन् 1700 ई० में हुआ था।

राजाओं ने इस युद्ध में अनेक मुग़ल एवं पठान सरदारों की सहायता ली थी। इस असफलता ने उनमें गहरी निराशा भर दी। उन्होंने अपने एक प्रतिनिधि को औरंगज़ेब के पास एक आवेदन-पत्र सहित भेजा, जिसमें लिखा था—"गुरु ने राजस्व के चिह्न धारण कर लिये हैं, वे अपने को 'सच्चा पातशाह' कहते हैं। हज़ारों धर्मोन्मत्त अनुयायी प्रतिदिन आ-आकर उनके झण्डे के नीचे एकत्रित होते हैं। हमें (राजाओं को) स्वयं उनका बल तोड़ने में सफलता प्राप्त नहीं हुई और विजय से फूलकर वे प्रतिदिन अधिक उद्धत तथा भयंकर होते जा रहे हैं। वे बादशाह की प्रभुसत्ता को स्वीकार करने से इन्कार करते हैं और अपने अबोध अनुयायियों को आशाएं देकर उत्तेजित करते हैं कि शीघ्र ही बादशाह का शासन मिट्टी में मिल जाएगा और देश में खालसा का राज्य होगा।"

इस आवेदन-पत्र से मुग़ल-शासन के कान खड़े हो गये। औरंगज़ेब उस समय दक्षिण के युद्धों में व्यस्त था। संभवतः उसने वहीं से सरहिंद और लाहौर के सूबेदारों को गुरु जी पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। दोनों सूबेदारों की सेनाएँ सरहिंद में एकत्र हुईं। गुरु जी को इस परिस्थिति का आभास हो चुका था। उन्होंने प्रतिरोध की पूरी तैयारी की।

युद्धारम्भ

लाहौर और सरहिंद की सम्मिलित सेनाओं ने एक़ ओर से उनपर आक्रमण किया और पहाड़ी राजाओं की सेना ने दूसरी ओर से। गुरु गोबिंद सिंह इस समय निरमोह नामक स्थान पर थे। उन्होंने अपनी सीमित शक्ति से उन सेनाओं का प्रबल प्रतिरोध किया। युद्ध पूरे एक दिन और एक रात तक चला। अन्त में शत्रु को बाध्य

होकर पीछे हटना पड़ा। गुरु जी ने भी अपनी सेना सहित निरमोह को छोड़कर आनन्दपुर की ओर प्रस्थान किया। अभी उन्होंने नदी पार ही की थी कि शत्रु-सेना ने उन पर फिर आक्रमण कर दिया। नदी-तट पर फिर भयानक संघर्ष हुआ। इस युद्ध में भी गुरु जी की पूर्ण विजय हुई और शत्रु सेना मैदान छोड़कर भाग गई। 'गुरु शोभा' के रचयिता के शब्दों में—

गोबिंद सिंह महाबल धार बिदार गए दल तुरकन केरे।
ऐसी भई प्रभु की रचना सभि भाजि गए फिरि आए न नेरे।।

—गुरु शोभा पृष्ठ 51

इस युद्ध की समाप्ति पर बिसाली के राजा ने उन्हें अपने राज्य में आमंत्रित किया। उसका निमंत्रण स्वीकार कर उन्होंने बिसाली में कुछ समय तक निवास किया। यहाँ उनकी शक्ति कम समझकर कहिलूर के राजा ने उन पर पुनः आक्रमण कर दिया। परन्तु इस युद्ध में भी गुरु जी ने उसे पूरी तरह पराजित करके भगा दिया।

कहिलूर का राजा अजमेरचंद अपनी लगातार हार से बहुत निराश हो गया था। अपना अभिमान छोड़कर वह बिसाली में उनसे आकर मिला, और संधि कर ली। वहाँ से वे आनन्दपुर वापस आ गये और उन्होंने आनन्दगढ़ नाम से एक नया दुर्ग बनवाया।

अपने आस-पास के क्षेत्रों पर सिखों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। गुरु गोबिंद सिंह की सैन्यशक्ति प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। दक्षिण के युद्धों में व्यस्त औरंगज़ेब सरहिंद और लाहौर के सूबेदारों को बार-बार आदेश भेज रहा था कि वे अपनी सैनिक शक्ति सहित पहाड़ी राजाओं की सहायता करें और गुरु पर नियन्त्रण स्थापित करें, किन्तु बार-बार मुग़लों और पहाड़ी राजाओं की सेनाएँ आनन्दपुर से पराजित हो-होकर लौट रही थीं। पहाड़ी राजा कभी तो उनसे संधि कर लेते थे और कभी अवसर मिलते ही आक्रमण कर देते थे।

सैयद बेग और अलिफ खाँ नामक दो मुग़ल सरदार लाहौर से दिल्ली की ओर जा रहे थे, तभी पहाड़ी राजाओं ने उन्हें दो हजार रुपये प्रतिदिन देना स्वीकार करके गुरु गोबिंद सिंह पर आक्रमण करने के लिए भेजा। दोनों मुग़ल सरदारों के पास 10 हजार की सशस्त्र और सुशिक्षित सेना थी। गुरु जी उस समय अपनी थोड़ी-सी सेना सहित चमकौर के निकट थे। यहीं उनका मुग़ल सेना से सामना हो गया। युद्ध का समाचार सुनते ही आनन्दपुर से सिखों की एक सेना भी उनकी सहायतार्थ वहाँ पहुँच गई।

मुग़ल सेनापति सैयद बेग गुरु गोबिंद सिंह के विषय में पहले कुछ सुन चुका था। प्रत्यक्ष में उनका सम्मोहक व्यक्तित्व एवं उनकी अद्‌भुत वीरता देखकर वह बहुत प्रभावित हुआ और अपने सैनिकों सहित उनके पक्ष में आ मिला। इस नाटकीय घटना से अलिफ ख़ाँ का साहस टूट गया और वह अपने सैनिकों सहित मैदान छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

कुछ समय बाद पहाड़ी राजाओं ने फिर एक सम्मिलित सेना लेकर गुरु गोबिंद सिंह पर आक्रमण किया। परन्तु वे इस बार भी बुरी तरह पराजित हुए।

अंत में पराजित राजाओं ने फिर मुग़ल सम्राट की शरण में जाने का निश्चय किया। औरंगज़ेब पंजाब के अपने सूबेदारों तथा पहाड़ी राजाओं की बार-बार की पराजय से बहुत चिंतित हो उठा था। पंजाब मुग़ल राज्य का सबसे सुदृढ़ केन्द्रीय प्रदेश था। एक नवजात आन्दोलन के हाथों शाही सेना की बार-बार पराजय से मुग़ल साम्राज्य की प्रतिष्ठा नष्ट हो रही थी। दक्षिण-विजय और साम्राज्य की जड़ों को इस प्रकार हिलता देखकर बुरी तरह घबरा गया और उसने एक विशाल सेना गुरु जी पर आक्रमण करने के लिए भेजी। इस सेना में सरहिंद, लाहौर और जम्मू के सूबेदारों की सेनाएँ भी सम्मिलित हुईं। पहाड़ी राजाओं ने अपनी सेनाओं से इस विशाल सेना की सहायता की। गूजर और रंघड़ जाति के दुर्दम्य मुसलमान, जो सिखों के चिर शत्रु थे, विशाल संख्या में इस सेना का अंग बने। इस प्रकार यह विशाल वाहिनी अपनी सम्पूर्ण शक्ति से 'खालसा' के नवजात आन्दोलन को कुचलने के लिए आगे बढ़ी।

आनन्दपुर का घेरा

गुरु गोबिंद सिंह ने यथाशक्ति इस संगठित संकट का सामना करने की तैयारी की थी। उन्होंने स्थान-स्थान पर मोर्चे स्थापित किये। भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ। खालसा सेना ने मुग़ल और पहाड़ी राजाओं को मारकर पीछे हटा दिया। शत्रु सेना के अनेक सैनिक खालसा सेना द्वारा बंदी बनाए जाने पर पुनः युद्ध में न जाने का वादा करके अपनी जान बचाने लगे। मुग़ल सेनापतियों और पहाड़ी राजाओं में आनन्दपुर से दूर हटकर स्थिति का विश्लेषण किया और अपनी विशाल सेना सहित आनन्दपुर के चारों ओर कड़ा घेरा डाल दिया।

यह घेरा इतना दृढ़ता से डाला गया कि आनन्दपुर से किसी का भी आना-जाना पूरी तरह बंद हो गया। धीरे-धीरे रसद की समस्या पैदा होने लगी। अनाज इतना

महँगा हो गया कि एक रुपए सेर बिकने लगा। आनन्दपुर में पानी की भी विकट समस्या उत्पन्न हो गई। ऐसी स्थिति में चार-चार सिख बाहर निकलते। उनमें से दो सिख एक ओर घेरा डाले हुए शत्रुसेना की टुकड़ी से लड़ते-लड़ते शहीद हो जाते और दो किसी तरह कुछ पानी अन्दर ले जाते। अनाज की समस्या प्रतिदिन जटिल होती गई। बहुधा सिखों की कोई प्रबल टुकड़ी रात के अंधेरे में शत्रु-सेना के अनाज-भंडार पर छापा मारती और जो कुछ भी हाथ लगता, उठा लाती। कुछ दिन इसी तरह चला रहा, परन्तु यह स्थिति देखकर शत्रु-सेना ने अपना अनाज-भंडार एक स्थान पर एकत्रित किया और बड़ी दृढ़ता से उसकी रक्षा की व्यवस्था की।

जैसे-जैसे भोजन की स्थिति बिगड़ती गई, सिख-सेना की व्याकुलता बढ़ती गई। उनमें से कुछ गुरु जी से दुर्ग छोड़ देने का आग्रह करने लगे। गुरु गोबिंद सिंह ने उन्हें धैर्यपूर्वक स्थिति का सामना करने के लिए कहा। परन्तु भूख की पीड़ा से अनेक सैनिकों का धैर्य टूटने लगा। प्रतिदिन आनन्दपुर छोड़ देने का आग्रह बढ़ता गया। ऊधर मुग़ल सेनापति और पहाड़ी राजा गुरु जी के पास कुरान और गीता की सौगन्ध के साथ यह संदेश भेजने लगे कि यदि वे दुर्ग छोड़ दें तो उन्हें यहाँ से सुरक्षित निकल जाने दिया जायेगा। गुरु जी को उनकी सौगंधों पर विश्वास नहीं था, परन्तु क्षुधित सिखों का आग्रह बढ़ता जा रहा था।

कहते हैं कि एक दिन गुरु जी ने कह दिया—जो दुर्ग छोड़कर जाना चाहते हैं वे यह लिखकर दे दें कि वे उनसे गुरु और शिष्य का सम्बंध तोड़ते हैं। 40 सिखों ने यह 'बेदावा' लिख दिया और रात्रि के अंधेरे में दुर्ग छोड़कर चले गये।

आनन्दपुर का घेरा पड़े आठ महीने हो गये थे। अन्त में दुर्ग छोड़ देने का निश्चय किया गया। गुरु गोबिंद सिंह अपनी माता, दो पत्नियों और चारों पुत्रों-अजीत सिंह, जुझार सिंह, जोरावर सिंह, और फतह सिंह तथा बचे-खुचे सिखों सहित रात्रि को किला छोड़कर बाहर निकल गये।

किला छोड़ते समय कुछ मूल्यवान सामग्री साथ ले ली गई। एकत्रित धन सिखों में बाँट दिया गया और उन्हें अस्त्र-शस्त्रों से पूरी तरह सुसज्जित कर दिया गया था। गुरु गोबिंद सिंह ने स्वयं अपनी तथा अपने दरबारी कवियों द्वारा रचित रचनाओं को सँभालने का पूर्ण प्रयास किया। श्रद्धालु सिखों द्वारा उनकी अधिकांश रचनाएँ तो किसी प्रकार बचा ली गईं, जिनका आगे चलकर भाई मनीसिंह ने संपादन किया, परन्तु अन्य कवियों की अधिकांश रचनाएँ नष्ट हो गईं।

दुर्ग-त्याग

वह 21, दिसम्बर, सन् 1704 की रात्रि थी जब गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी बची सेना और परिवार सहित दुर्ग छोड़ा। अभी वे सरसा नदी के तट पर पहुँचे थे कि पीछे से शत्रु-सेना अपनी सभी सौगंधों को भुलाकर आ गई। वर्षा और शीत भरी रात्रि में नदी तट पर ही संघर्ष हुआ। कुछ सिखों ने मुग़ल-सेना को युद्ध में व्यस्त रखा और गुरु जी अपने चालीस सैनिकों और दो पुत्रों—अजीत सिंह (19 वर्ष) तथा जुझार सिंह (14 वर्ष) सहित चमकौर की गढ़ी तक पहुँच गए। परन्तु नदी-तट पर हुए युद्ध की हलचल में उनका शेष परिवार उनसे अलग हो गया। उनके दो कनिष्ठ पुत्र, जोरावर सिंह (9 वर्ष) और फतह सिंह (7 वर्ष) अपनी दादी-माता गूजरी-सहित अपने एक रसोइए गंगाराम के साथ उसके गाँव की ओर चले गए। लेकिन गंगाराम विश्वासघाती निकला। दोनों पुत्रों को उसने धन के लोभ में सरहिंद के सूबेदार वजीर ख़ान को सौंप दिया। वजीर खान ने उन्हें इस्लाम स्वीकार करने को कहा और इससे इन्कार करने पर 27 दिसम्बर, 1704 ई० को उन्हें जीवित दीवार में चुनवा दिया। माता गूजरी ने बच्चों के शोक में अपने प्राण त्याग दिये। उनकी दोनों पत्नियाँ सुन्दरी और साहिब देवी भी उस अशान्ति में उनसे बिछुड़ गईं और भाई मनी सिंह के साथ किसी प्रकार दिल्ली पहुँच गईं।

चमकौर की गढ़ी भी शत्रुओं द्वारा घेर ली गई। गुरु गोबिंद सिंह, उनके पुत्रों और चालीस साथियों ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। गुरु गोबिंद सिंह ने बाणों की वर्षा से मुग़ल सेनापति नाहर खाँ मारा गया और ख्वाजा मुहम्मद ने गढ़ी की दीवार के नीचे छिपकर अपनी जान बचाई। कुँवर अजीत सिंह और जुझार सिंह की इस युद्ध में प्रदर्शित अद्भुत वीरता का भी विस्तृत वर्णन कवि सेनापति 'गुरुशोभा' में किया है।

एक-एक करके गुरु जी के अधिकांश साथी समाप्त हो गए। उनके दोनों ज्येष्ठ पुत्रों ने भी शत्रुओं का संहार करते हुए वीरगति प्राप्त की। अंत में चमकौर त्याग देने का निश्चय हुआ। 22 दिसम्बर 1704 ई० को रात्रि अंधकार में बचे हुए अपने तीन साथियों—भाई दयासिंह, भाई धर्मसिंह और भाई मानसिंह सहित वे मुग़ल सेना की आँखों में धूल झोंककर निकल गये। भाई सुक्खा सिंह ने अपने 'गुरु विलास' में लिखा है कि चमकौर दुर्ग में उपस्थित एक सिख, संगतसिंह की शक्ल गुरु गोबिंद सिंह से बहुत मिलती थी। वही शत्रु को धोखा देने के लिए गुरु जी के वस्त्र और

कलगी धारण करके उन पर बाण-वर्षा करता रहा और वे गढ़ी छोड़कर निकल गये।

संकट के वे दिन

गुरु जी के तीनों साथी विभिन्न दिशाओं में चले गए। उनके इधर-उधर भटकने, अनेक स्थानों पर पीछा करती हुई शत्रु-सेना से बाल-बाल बचने और नंगे पैर माछीवाड़ा के घने और काँटों-भरे जंगल में अपने-आपको छिपाए रखने की कहानी बड़ी रोमांचक है। कितने ही दिन उन्होंने आक के पत्ते खाकर अपनी क्षुधा शान्त की। कितनी ही शीत भरी रातें उन्होंने आकाश के चमकते हुए सितारों की छाया में निर्वस्त्र गुजारीं। ऐसी स्थिति में दो पठानों—नबी खाँ और गनी खाँ ने उन्हें फटे वस्त्रों और छाले भरे पैरों में सोते हुए पाया। वे जानते थे कि शाही सेना उनके पीछे पड़ी हुई है। परन्तु उन्होंने उनके लिए अपने प्राणों का संकट स्वीकार किया। उन्होंने उन्हें मुसलमान फकीरों जैसे नीले वस्त्र पहनाये और 'उच्च का पीर' घोषित कर उन्हें एक पालकी में बैठाकर ले चले। 'उच्च का पीर' के दो अर्थ थे। एक 'ऊँचा पीर', दूसरा 'उच्च' (मुलतान के निकट मुसलमानों का एक पवित्र स्थान) का पीर। एक बार शाही सेना की एक टुकड़ी ने उन्हें घेर लिया। टुकड़ी के नायक को कुछ संदेह हो गया। उसने अनेक प्रश्न किये। फिर भी जब उसे संतोष नहीं हुआ, तो उसने काज़ी पीर मुहम्मद को जाँच करने के लिए बुला भेजा। संयोग से काज़ी पीर मुहम्मद ने गुरु गोबिंद सिंह को बचपन में फारसी पढ़ाई थी। उसने भी उनकी सहायता की और सैनिक टुकड़ी को संतोषजनक उत्तर देकर स्थिति को सँभाल लिया। गुरु जी ने उन मुसलमान मित्रों को धन्यवाद भरे पत्र लिखे। उनके परिवारों के पास आज भी उनके हस्ताक्षरयुक्त धन्यवाद-पत्र सुरक्षित हैं और दर्शकों को वे बड़ी श्रद्धा से उन पत्रों का दर्शन कराते हैं।

वहाँ से वे जतपुरा पहुँचे, जहाँ एक अन्य मुसलमान राय कल्हा ने उनकी सहायता की। गुरु जी ने उससे किसी को भेजकर सरहिंद से अपने छोटे पुत्रों का समाचार मँगवाने के लिए कहा। कुछ दिनों पश्चात् राय कल्हा का संदेशवाहक सरहिंद के सूबेदार वजीर ख़ाँ द्वारा गुरु-पुत्रों की नृशंस हत्या का हृदय-विदारक समाचार लाया। दुःखी पिता ने इस समाचार को बड़े धैर्य से सुना और कहा—"नहीं, मेरे पुत्र मरे नहीं हैं। उन्होंने धर्म का सौदा करने से इनकार कर दिया। वे अमर हो गये हैं।" कहते-कहते उन्होंने धरती पर लगा एक पौधा उखाड़ा और घोषित किया—"इस

धरती से शत्रु को भी इसी प्रकार उखाड़ दिया जाएगा।"

वहाँ से चलकर गुरु गोबिंद सिंह दीना नामक स्थान पर आये। इस समय तक उनके वे तीनों साथी भी उनसे आ मिले थे, जो चमकौर दुर्ग छोड़ने के पश्चात् उनसे अलग हो गये थे। धीरे-धीरे उनके और बहुत-से शिष्य भी उनके साथ आ मिले। वहाँ अनेक स्थानों पर रुकते और अपनी शक्ति को पुनः संगठित करते हुए वे खिदराना नामक स्थान पर आ पहुँचे। इससमय तक उनके पास कई हजार सैनिक एकत्र हो गये थे।

खिदराना (मुक्तसर) का युद्ध

सरहिंद के सूबेदार वजीर ख़ान की सेना निरन्तर उनका पीछा कर रही थी। युद्ध की दृष्टि से यह स्थान उपयुक्त समझकर उन्होंने निकट के घने जंगल में अपना मोर्चा लगा लिया। यहाँ मुग़ल-सेना ने उन पर आक्रमण किया, परन्तु इस युद्ध में गुरु गोबिंद सिंह ने उसे पूरी तरह पराजित कर दिया। सिख-सेना ने अपने लिए रसद-पानी का प्रबंध किया हुआ था, परन्तु शत्रुं-सेना पानी के अभाव में त्राहि-त्राहि कर उठी और उसे मैदान छोड़ना पड़ा।

इस युद्ध में उन चालीस सिखों ने अद्भुत पराक्रम का प्रदर्शन कर वीरगति प्राप्त की, जो आनन्दपुर में भूख-प्यास से व्याकुल होकर अपने गुरु का साथ छोड़ आये थे। अब अपने प्राण देकर उन्होंने उस कृत्य का प्रायश्चित किया। तब से सिखों की दैनिक प्रार्थनाओं में इन्हें 'चालीस मुक्ते' कहकर बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया जाता है। खिदराना को तब से 'मुक्तसर' कहते हैं और इस युद्ध की स्मृति में प्रतिवर्ष माघ में यहाँ एक मेला लगता है।

खिदराना के युद्ध के पश्चात् गुरु गोबिंद सिंह कुछ समय तक जगह-जगह विचरण करते रहे, फिर वे तलवंडी साबो पहुँचे, जिसे आज 'दमदमा' कहते हैं। यहाँ उनका एक घनिष्ठ मित्र डल्ला रहता था, जिसने उनकी पूरी सहायता की। सामरिक प्रतिरक्षा की दृष्टि से यह स्थान बहुत उपयुक्त था। गुरु जी यहाँ कुछ समय तक बड़ी शान्ति से रहे।

यहाँ रहकर उन्होंने पंजाब के इस मालवा-क्षेत्र में अपने मत का प्रचार किया। इस क्षेत्र के सिखों के बहुत-से पुराने घराने तथा राजवंश इन्हीं दिनों गुरु के हाथों से 'पहुल' लेकर 'खालसा पंथ' में दीक्षित हुए। डल्ला भी इन नव-दीक्षितों में एक था। परन्तु विशेष रूप से उल्लेखनीय थे—तिलोका और रामा नाम के दो भाई। पंजाब

के दो प्रसिद्ध राजवंशों-पटियाला और नाभा-के ये पूर्व-पुरुष थे। इनके अतिरिक्त और बहुत-से लोग यहाँ 'खालसा पंथ' में दीक्षित हुए। ट्रम्प के मतानुसार उन्होंने यहाँ लगभग एक लाख बीस हज़ार अनुयायी बनाए।

दमदमा का यह निवास गुरु गोबिंद सिंह के जीवन के साहित्यिक पहलू की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' का आज जो रूप उपलब्ध है, गुरु गोबिंद सिंह के निर्देश में वह उसे यहीं प्राप्त हुआ। लगता है, 'गुरु ग्रंथ साहिब' को पुनः सम्पादित कराने के कार्य में यहाँ उन्हें काफी समय लगा होगा। धीरे-धीरे यह स्थान अध्ययन का केन्द्र बन गया और इसीलिए इसे 'गुरु काशी' या सिखों की काशी कहा जाने लगा।

इन्हीं दिनों गुरु गोबिंद सिंह ने औरंगज़ेब को एक पत्र लिखा जिसे 'जफरनामा' (विजय-पत्र) कहा जाता है। फारसी भाषा में लिखे इस पत्र में कुल 111 शेर हैं। 53वें शे'र से यह स्पष्ट होता है कि यह पत्र औरंगज़ेब द्वारा प्राप्त किसी पत्र के उत्तर में लिखा गया था। 53वें शे'र का भावार्थ है—

'तुम्हारा कर्तव्य है कि काम को पूरा करो (और अपने) लिखे अनुसार विचार करो।[1]

54वें शे'र में लिखा है—

'लिखा हुआ पत्र पहुँच गया है। मौखिक भी कह दिया गया है। (तुम्हें) चाहिए कि उसे सुख से पूरा करो।'[2]

सिख इतिहासकारों ने इस बात का उल्लेख किया है कि औरंगज़ेब ने गुरु गोबिंद सिंह को प्रत्यक्ष भेंट करने के लिए बुलाया था। उस पत्र के उत्तर में ही यह पत्र लिखा होगा।[3]

गुरु गोबिंद सिंह ने यह पत्र दीना नामक स्थान से लिखा था। पत्र में इस बात का संकेत है। 58वें शे'र में वे लिखते हैं—

'आप कांगड़ गाँव में तशरीफ लाइए। वहाँ भेंट हो जाएगी।[1]

---

1. शुमा रा चु फ़र्ज अस्त कारे कुनी।
   बमूज़ब नविशतह शुमारे कुनी।। 53 ।।
2. नविशतह रसीदो बिगुफतह जुबाँ।
   बबायद कि कार ईं बराहत रसाँ।। 54 ।।
3. डॉ० गंडा सिंह, सिख इतिहास बारे, पृ० 35

दीना ग्राम कांगड़ ज़मींदारी का ही एक गाँव था। यहाँ के अधिकांश निवासी बैराड़ जाति के थे, जो गुरु के अनन्य शिष्य थे। 59वें शे'र में उन्होंने इस ओर भी संकेत किया है—

'इस मार्ग पर आपको कण मात्र भी भय नहीं (होना चाहिए, क्योंकि) सम्पूर्ण बैराड़ जाति मेरी आज्ञा में है।'[2]

इस पत्र के प्रारम्भिक 12 शे'रों में गुरु गोबिंद सिंह ने निराकार सर्वव्यापी ईश्वर का गुणगान किया है। आगे के शे'रों में उन्होंने औरंगज़ेब और उसके सेनापतियों की सौगन्धों पर अविश्वास प्रकट किया है।[3] उन्होंने इस पत्र में चमकौर के उस युद्ध का भी संकेत किया है, जब क्षुधा-पीड़ित कुछ सैनिकों पर असंख्य मुग़ल सेना ने आक्रमण कर दिया था।[4] 22वें शे'र में उन्होंने अपना प्रसिद्ध सिद्धांत-वाक्य कहा—

'जब नीति के सभी साधन असफल हो जाएँ तो तलवार का सहारा लेना हर दृष्टि से उचित है।'[5]

आगे के शे'रों में उन्होंने चमकौर के युद्ध का वर्णन किया है—किस तरह मुग़ल सेनापतियों ने अपनी प्रतिज्ञाओं को भूलकर उन पर आक्रमण किया, किस तरह उन्होंने इस युद्ध में नाहर ख़ाँ को मौत के घाट उतार दिया और ख्वाजा महमूद ने किस प्रकार छिपकर जान बचाई और किस तरह उन्होंने रात्रि के अंधेरे में चमकौर-दुर्ग का त्याग किया।

46वें शे'र में वे कहते हैं—'न तुममें ईमानपरस्ती है, न कोई उचित ढंग ही। तुमने न साहब को पहचाना है, न तुम्हें मुहम्मद पर विश्वास है।'[6]

फिर वे औरंगज़ेब को पंजाब आने के लिए आमंत्रित करते हैं (शे'र 58, 59)।

---

1. कि तशरीफ दर कसबह 'कांगड़' कुनद।
   बज़ा पस मुलाकात बाहम शवद।। 58 ।।
2. न ज़रा दरीं राहि खतरह तुराअस्त।
   हमह कौम बैराड़ हुक्मे मरासत।। 59 ।।
3. मरा एतबारे बरा ईं कसम नेस्त।
   कि एज़द गवाह अस्त यज़दां यकेस्त।। 13 ।।
4. गुरसनह चि कारे कुनद चिहल नर।
   कि दह लख बरामद बरो बेखबर।। 19 ।।
5. चुकार अज़ हमह हीलते दर गुज़श्त।
   हलाल अस्त बुरदन ब शमशीर दस्त।। 22 ।।
6. न ईमाँ परस्ती न अउज़ाई दीं।
   न साहिब शनासी न मुहम्मद यकीं।। 46 ।।

साथ ही यह भी लिखा है कि यदि मेरे पास हुक्म आ जाए तो मैं मन और तन से तुम्हारे पास आ जाऊँगा।[1] उसे वे यह भी स्मरण कराते हैं कि उनके चार पुत्र मार डाले गये हैं, परन्तु इसकी उन्हें कोई चिंता नहीं, क्योंकि कुण्डलदार साँप (खालसा) अभी भी शेष है।[2]

औरंगज़ेब को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा—'तुझमें अनेक गुण हैं। पर उन अनेक गुणों के रहते हुए तुम धर्म (दीन) से बहुत दूर हो।[3] अर्थात् तुम 'दीन' क अपने-आपको पालक समझते हो, परंतु उसकी वास्तविकता से बहुत दूर हो।

105वें और 106वें शे'र में उन्होंने लिखा—'यदि तुम्हारी दृष्टि अपनी सेना और धन की ओर है तो मेरी दृष्टि ईश्वर की कृपा पर है। यदि तुम्हें अपने राज्य और धन का अहंकार है तो मुझे अकाल का सहारा है।'[4]

अंत के दो शे'रों में वे ईश्वर पर अपनी पूर्ण आस्था प्रकट करते हुए कहते हैं कि यदि वह सहायक हो तो सैकड़ों शत्रु भी कुछ नहीं कर सकते। शत्रुता निभाने के लिए यदि कोई हज़ारों व्यक्तियों को भी अपने साथ ले आए तो उसका बाल भी बांका नहीं किया जा सकता।

इस पत्र को गुरु गोबिंद सिंह ने भाई दया सिंह द्वारा औरंगज़ेब के पास भिजवाया, जो उस समय अहमदनगर में था। कुछ समय की प्रतीक्षा के पश्चात् भाई दया सिंह यह पत्र औरंगज़ेब के पास पहुंचाने में सफल हो गये। उस समय के ऐतिहासिक सूत्रों से ज्ञात होता है कि औरंगज़ेब ने तत्काल यह आज्ञा प्रसारित करा दी कि गुरु गोबिंद सिंह को कोई कष्ट न दिया जाय और सम्मान सहित बादशाह के पास लाया जाए।

---

1. अगरचिह बिआमद बफ़ुरमाने मन।
   हज़ूरत बियायम हमह जानो तन।। 63 ।।
2. चिहा शुद कि चूं बच्चगो कुशतह चार।
   कि बाकी बिमादस्त पेचीदह मार।। 78।।
3. शहनशाहि अउरंगज़ेब आलमीं।
   कि दाराइ दौर अस्त दूर अस्त दीं।। 94 ।।
4. तुरा गर नज़र हस्त लशकर व ज़र।
   कि मारा निगाह अस्त यज़दाँ शुकर।। 105 ।।
   कि उरा गुरूर अस्त बर मुलको माल।
   व मारा पनाह यज़दाँ अकाल।। 106 ।।

दक्षिण की ओर

भाई दया सिंह अहमदनगर में औरंगज़ेब को पत्र दे सकने में सफल हुए या नहीं, इस बात का पता गुरु गोबिंद सिंह को बहुत दिनों तक नहीं लगा और वे पंजाब से दक्षिण की ओर चल दिए। गुरु गोबिंद सिंह किस उद्देश्य से दक्षिण की ओर चले, इस सम्बंध में इतिहासकारों में पर्याप्त मतभेद है, परन्तु अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि वे औरंगज़ेब से मिलने के लिए ही दक्षिण की ओर जाने के लिए तैयार हुए थे।

गुरु गोबिंद सिंह ने अक्तूबर, सन् 1706 में दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। उन्होंने राजस्थान के मार्ग से दक्षिण जाने का निर्णय किया था। इस निर्णय के अनुसार वे राजस्थान की ओर चल पड़े। राजस्थान में उनके राजपूत राजाओं ने उनका स्वागत किया। जब वे बघौर नामक स्थान पर पहुँचे तो भाई दया सिंह दक्षिण से वापस आते हुए उन्हें यहीं मिले और उन्होंने उन्हें सभी समाचारों से अवगत कराया। बादशाह के गुरजबरदार और मनसबदार शाही फरमान मुनइम ख़ान को पहुँचने के लिए सीधे दिल्ली चले गये। यहीं उन्हें औरंगज़ेब की मृत्यु (20 फरवरी, सन् 1707, अहमदनगर) का समाचार मिला।

औरंगज़ेब की मृत्यु में परिस्थिति में एक बड़ा परिवर्तन कर दिया। अब दक्षिण की ओर जाने का कोई विशेष अर्थ नहीं था, इसलिए वे दिल्ली की ओर चल दिए। गुरु गोबिंद सिंह की दोनों पत्नियाँ उस समय दिल्ली में ही थीं।

औरंगज़ेब की मृत्यु होते ही मुग़ल शाहज़ादों में सिंहासन के लिए परम्परागत युद्ध छिड़ गया। औरंगज़ेब के दूसरे पुत्र आजम ने, जो उस समय दक्षिण में था, झटपट अपने को बादशाह घोषित कर दिया और सेना सहित उत्तर की ओर चल पड़ा। औरंगज़ेब का ज्येष्ठ पुत्र मुअज़्ज़म उत्तर में था। उसने आजम से निपटने के लिए युद्ध की तैयारी की और गुरु गोबिंद सिंह को सहायता के लिए एक पत्र लिखा।

गुरु गोबिंद सिंह और मुअज़्ज़म का परिचय इस घटना से लगभग दस वर्ष पूर्व हो चुका था। यहाँ इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि जब मुअज़्ज़म पहाड़ी राजाओं के विद्रोह को दबाने के लिए पंजाब आया था, उस समय उसके व्यक्तिगत सचिव भाई नंदलाल द्वारा उसे गुरु जी का विशेष परिचय प्राप्त हुआ था। संभव है इस समय भी भाई नंदलाल ने ही उसे उनसे सहायता प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया हो।

इस सहायता का सैनिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं था। गुरु गोबिंद सिंह के साथ उस समय कोई विशेष सैनिक शक्ति भी नहीं थी। ख़फी ख़ान की 'मुंतखिब-उल-लुबाब' के अनुसार उनके साथ केवल दो-तीन सौ भालाधारी सवार थे। परन्तु इस सहायता का एक अन्य दृष्टि से शाहज़ादे के लिए काफी महत्त्व था। मुग़ल शासक बहुधा अपनी कठिनाइयों के अवसर पर संतों-फकीरों का आशीर्वाद प्राप्त करने का प्रयास किया करते थे। इस सहायता की माँग उसी दृष्टि से की गई होगी।

आगरा के निकट जाजऊ नामक स्थान पर 18 जून, 1707 को दोनों भाइयों का युद्ध हुआ, जिसमें आजमशाह पराजित हुआ और मारा गया और मुअज़्ज़म 'बहादुरशाह' के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा।

दिल्ली में गुरु गोबिंद सिंह कुछ समय तक रहे। दिल्ली के लोगों ने उनका बहुत सम्मान किया। जमुना के किनारे उन्होंने अपना डेरा डाला और सहस्रों की संख्या में लोग एकत्र होकर उनका उपदेश सुनने लगे।

कुछ समय के बाद उन्होंने आगरा की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में मथुरा, वृन्दावन की यात्रा करते हुए वे आगरा के निकट आ गये और बादशाह के निवास-स्थान से लगभग दो कोस के अन्तर पर उन्होंने अपना डेरा लगा दिया।

बहादुरशाह से भेंट

कुछ समय बाद बहादुरशाह ने उन्हें भेंट के लिए बुलाया। 2 अगस्त, सन् 1707 को उनकी भेंट बहादुरशाह से हुई। गुरु गोबिंद सिंह उस समय सैनिक वेश में पूर्ण रूप से सज्जित थे। बहादुरशाह ने उनका स्वागत किया और उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व को देखकर मुग्ध हो गया। जाजऊ युद्ध की सहायता के लिए उसने धन्यवाद दिया और उन्हें मूल्यवान खिलअत—एक धुगधुघी और एक कलगी भेंट की।

गुरु गोबिंद सिंह आगरा में ही अपना डेरा डाले रहे। वहाँ दूर-दूर से श्रद्धालु आने लगे। इस बीच बादशाह से किन्हीं महत्वपूर्ण विषयों पर उनकी चर्चा भी होती रही।

12 नवम्बर, सन् 1707 ई० को बहादुरशाह राजपूतों का विद्रोह दबाने के लिए चल दिया। गुरु गोबिंद सिंह से उसकी बातचीत चल ही रही थी, इसलिए बादशाह के आग्रह पर वे भी अपने सैनिकों सहित उसके साथ हो लिए। राजस्थान में ही बहादुर शाह को समाचार मिला कि दक्षिण में उसके छोटे भाई कामबख़्श

ने विद्रोह कर दिया है, इसलिए वह वहाँ से दक्षिण की ओर चल पड़ा।

नान्देड़ में

शाही सेना जून 1708 में ताप्ती नदी पार करके बुरहानपुर पहुँची। अगस्त 1708 में बाणगंगा को पार कर सितम्बर के प्रारम्भ में यह सेना गोदावरी के किनारे बसे नगर नान्देड़ में पहुँच गई। शाही सेना यहाँ से हैदराबाद की ओर बढ़ी, ताकि कामबख्श के विद्रोह का दमन किया जा सके। गुरु गोबिंद सिंह अपनी सैन्य टुकड़ी के साथ वहीं टिके रहे।

नान्देड़ में गुरु गोबिंद सिंह की भेंट माधोदास नामक एक बैरागी से हुई। माधोदास की चर्चा वे अपनी दक्षिण यात्रा के दौरान सुन चुके थे।

गुरु गोबिंद सिंह उससे भेंट करने के लिए उसके डेरे पर गये। माधोदास उस समय डेरे पर नहीं था। वे उसकी गद्दी पर बैठकर उसकी प्रतीक्षा करने लगे। उसके शिष्यों ने दौड़कर माधोदास को इस बात की सूचना दी। कहते हैं, माधोदास ने गुरु गोबिंद सिंह को अपनी गद्दी से गिराने के लिए बहुत-से जादू-टोने किए परन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली।

गुरु गोबिंद सिंह ने उसे कर्म का संदेश दिया। उसके सम्मुख उन्होंने मातृभूमि की अवस्था का चित्रण किया। वे माधोदास के अन्दर छिपी अनन्त शक्तियों की पहचान कर चुके थे। उनके हृदयग्राही वक्तव्य तथा धार्मिक उत्साह ने माधोदास के हृदय पर ऐसा गहरा प्रभाव डाला कि वह गुरु का शिष्य हो गया। वह अपने-आपको गुरु का 'बन्दा' अथवा 'गुलाम' कहने लगा और उसने अपना जीवन सर्वथा गुरु के चरणों में सौप दिया। तभी से उसका नाम 'बन्दा' पड़ गया। गुरु गोबिंद सिंह ने उसे 'अमृत' छकाया और विधिवत् अपने अभियान में सम्मिलित करके पाँच प्यारों और कुछ अन्य सिखों के साथ पंजाब की ओर भेज दिया।

देहावसान

नान्देड़ पहुँचने के लगभग एक मास के अन्दर ही 7 अक्तूबर, सन् 1708 को प्रातःकाल गुरु गोबिंद सिंह जी के जीवन की इहलीला अचानक समाप्त हो गई।

'गुरु शोभा' में लिखा है, एक पठान कुछ दाँव लेकर प्रभु (गुरु गोबिंद सिंह) के पास आया और दो-तीन घड़ी वहाँ बैठा रहा पर उसका दाँव नहीं लगा, क्योंकि वहाँ बहुत लोग उपस्थित थे। उस दिन वह चला गया और दूसरे दिन्न फिर आया।

उस दिन भी वह दो-तीन घड़ी बैठकर घात लगाता रहा, परन्तु उस दिन भी उसे सफलता नहीं मिली और वह घर चला गया। इस प्रकार वह कई दिन तक आता रहा, परन्तु उसका दाँव नहीं लगा। अनेक बार आने के कारण उसने यह जान लिया कि संध्या समय उसका दाँव लग सकता है। वह दुष्ट एक दिन शाम के समय आया। साहिब (गुरु गोबिंद सिंह) ने उसे पास बुलाया और अपने-आप बैठाकर प्रसाद दिया, जिसे उस दुष्ट ने हाथ में लेकर मुँह में डाल लिया। उस समय वहाँ कोई सिंह (सिख) नहीं था, केवल एक रक्षक था, वह भी ऊँघ रहा था। इतने में प्रभु स्वयं विश्राम करने लगे। अवसर देखकर उस दुष्ट पठान ने उन पर छुरे से आक्रमण कर दिया। उसने उन पर दो वार किये कि गुरु गोबिंद सिंह ने निकट रखी अपनी तलवार के एक ही वार से उस दुष्ट को वहीं मार गिराया। फिर उन्होंने आवाज देकर शिष्यों को बुलाया। झट-पट बहुत से लोग वहाँ आ गये और उसके दो साथियों को, जो डेरे के बाहर प्रतीक्षा कर रहे थे, पकड़कर मार डाला गया। डेरे के अंदर पड़े तीसरे पठान के शव को देखकर सिख उस पर तलवार चलाने ही वाले थे कि गुरु जी ने कहा—यह तो कभी का मर चुका है। इसे यहाँ से हटाओ। अभी तक किसी को यह नहीं पता लगा था कि गुरु जी स्वयं जख्मी हो गए हैं। परन्तु जब वे उठे और लड़खड़ाए, तब उन्हें इस घटना का पता लगा और वे दुःख में डूब गए। गुरु जी ने सबको सान्त्वना दी कि डर की कोई बात नहीं है, अकाल ने उनकी रक्षा की है। उसी समय घाव धोकर सी दिये गये और उनपर मरहम लगा दी गई। तीन-चार दिन बीते। बहुत-से सिख उनके दर्शन के लिए आ रहे थे। उनकी प्रार्थना पर वे दरबार में आए। फिर कुछ दिन व्यतीत हुए। पठान के घातक आक्रमण से उनकी रक्षा हो गई है, यह विश्वास करके सिखों में आनन्द छा गया। परन्तु वे (गुरु जी) समझ गये थे कि उनका अन्त समय निकट आ गया है। एक रात्रि को थोड़ा भोजन करके वे लेट गए। आधी रात से चार घड़ी ऊपर हुई थीं कि उन्होंने सब सिखों को बुलाया। सभी सिख उनके निकट एकत्र हो गये और गुरु गोबिंद सिंह जी ने उन्हें अंतिम बार 'वाहि गुरु जी की फतेह' कही और उनकी आत्मा ने अपनी नश्वर देह को छोड़ दिया।[1]

गुरु गोबिंद सिंह के देहावसान के सम्बन्ध में इतिहासकारों में अनेक भ्रम फैले हुए हैं, परन्तु अब 'गुरु शोभा' में दिया हुआ उक्त वृतान्त ही सर्वाधिक प्रामाणिक

1. गुरु शोभा, पृ॰ 101 से 104

माना जाता है। गुरु जी की हत्या करने के पीछे उन पठानों का क्या उद्देश्य था, इस सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। परन्तु यह मत आज पूरी तरह माना जा रहा है कि इस हत्या के पीछे सरहिंद के सूबेदार वजीर खाँ का हाथ था। गुरु जी की बहादुरशाह से बढ़ती हुई मैत्री से वह बहुत शंकित हो उठा था। उसे डर था कि यह मैत्री उसके लिए घातक हो सकती है, इसलिए उसने इन पठानों को यह दुष्कृत्य करने के लिए भेजा।

देहावसान के समय गुरु गोबिंद सिंह जी की आयु लगभग 42 वर्ष थी।

बिहार की भूमि को उन्हें जन्म देने का गौरव प्राप्त हुआ तो महाराष्ट्र की वीर प्रसू भूमि में उनका अन्तिम संस्कार हुआ। नान्देड़ में उनकी स्मृति में बना भव्य गुरुद्वारा सुदूर उत्तर के लाखों श्रद्धालु दर्शनार्थियों के लिए 'हजूर साहिब' के नाम से विख्यात है और एक महत्वपूर्ण तीर्थ स्थान माना जाता है।

4
काव्य रचनाएँ

गुरुमुखी लिपि में मुद्रित गुरु गोबिंद सिंह की रचनाओं के संग्रह, जिसे सामान्यतः 'दशम ग्रंथ' कहा जाता है, में निम्नलिखित रचनाएँ संगृहीत हैं—

1. जापु, 2. अकालस्तुति, 3. विचित्र नाटक (आत्मकथा), 4. चंडी चरित्र (प्रथम), 5. चंडी चरित्र (द्वितीय), 6. वार भगउतीजी की (चण्डी दी वार), 7. ज्ञान प्रबोध, 8. चौबीस अवतार, 9. मेहंदी मीर, 10. ब्रह्मावतार, 11. रुद्रावतार, 12. स्फुट सवैए, 13. शस्त्र नाम माला, 14. चरित्रोपाख्यान, 15. ज़फरनामा तथा 16. हिकायतें।

ये सभी रचनाएँ बड़े आकार के 1428 पृष्ठों में मुद्रित हैं। इनमें क्रमांक 6 की रचना (चण्डी दी वार) पंजाबी भाषा में है और क्रमांक 15 और 16 (ज़फरनामा और हिकायतें) फारसी भाषा में हैं। 'दशम ग्रंथ' का अधिकांश भाग उनकी हिन्दी रचनाओं से ही भरा हुआ है। पंजाबी और फारसी की रचनाएँ केवल 50 पृष्ठों के स्वल्प भाग में ही सीमित हैं।

'दशम ग्रंथ' में संगृहीत रचनाओं के सम्बन्ध में सिख-जगत में कुछ दशाब्दियों से पर्याप्त मतभेद चला आ रहा है। पंजाब में 'सिंह सभा' आन्दोलन और अकाली आन्दोलनों के रूप में सिख-पुनर्जागरण (उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में) का जो प्रयास हुआ, उससे सिर्फ सिख बुद्धिजीवी और प्रचारक वर्ग में 'दशम ग्रंथ' की मान्यता घटी वरन् उसके कृर्तृत्व के सम्बन्ध में अनेक मतभेद भी उठ खड़े हुए।

'दशम ग्रंथ' की प्राप्त प्रतियाँ

गुरु गोबिंद सिंह की रचनाओं को 'दशम ग्रंथ' या 'दशम पातशाह का ग्रंथ'

के रूप में संगृहीत करने का कार्य उनकी मृत्यु के कुछ समय बाद हुआ। गुरु गोबिंद सिंह की अधिकांश कृतियों का रचनाकाल सन् 1680 से 1700 के मध्य का ही है। इस समय के बीच में भी उन्हें अनेक युद्ध करने पड़े थे, जिसमें से कुछ का वर्णन उनकी आत्मकथा 'विचित्र नाटक' में है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चार-पाँच वर्षों में उन्हें सतत् युद्धरत रहना पड़ा। उत्तर-पश्चिम भारत का सम्पूर्ण मुग़ल साम्राज्य पंजाब के पहाड़ी हिन्दू राजाओं की सहायता से युक्त होकर गुरु गोबिंद सिंह के नेतृत्व में जागती हुई जन-चेतना को समूल नष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो गया था। यह समय उनके जीवन का सर्वाधिक संघर्षमय समय था। युद्ध की विभीषिका से आक्रान्त होकर उन्हें अपना केन्द्र स्थान आनन्दपुर त्यागना पड़ा। उनके तथा उनके सहयोगी कवियों द्वारा रचित विशाल साहित्य-भण्डार तोपों की गड़गड़ाहट, बन्दूकों की कर्णभेदी आवाज़ों तथा तीरों-तलवारों की सरसराहट और झनझनाहट का शिकार हो गया। पोथियाँ इधर-उधर बिखर गईं। उनमें से कुछ नष्ट हो गईं और जो शेष बचीं, उनके अंश इधर-उधर बिखर गये।

गुरु गोबिंद सिंह के देहावसान के बाद औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने 30 दिसम्बर, 1711 ई॰ को लाहौर में मनाए गए अपने जन्मोत्सव पर जहाँगीर के समय की गुरु चक (अमृतसर) की जब्त की हुई जागीर गुरु गोबिंद सिंह की विधवा पत्नी-माता सुन्दरी, जो दिल्ली में रहती थीं—के दत्तक पुत्र अजीत सिंह को बहाल कर दी। माता सुन्दरी ने अमृतसर के हरिमंदिर, नगर चुंगी तथा सम्बन्धित जागीर का प्रबन्ध करने के लिए दिल्ली के पुजारी तथा अन्य प्रबन्धक भेजे। हरिमन्दिर के ग्रंथी (पुजारी) का कार्य भाई मनी सिंह को सौंपा गया था। भाई मनी सिंह गुरु गोबिंद सिंह के सम्पर्क में वर्षों तक रहे थे। इसलिए माता सुन्दरी ने गुरु गोबिंद सिंह की रचनाओं की खोज का कार्य भी उन्हें सौंपा।

भाई मनी सिंह ने बड़े यत्नपूर्वक गुरु गोबिंद सिंह की इधर-उधर बिखरी हुई रचनाओं की खोज की। जो भी रचना उन्हें प्राप्त हुई, उसकी एक प्रति उन्होंने अपने पास रखी और एक माता सुन्दरी के पास दिल्ली भिजवाते गए, जिसे संगृहीत करने का कार्य उनके लिपिक भाई सीहां सिंह करते गए।

भाई मनी सिंह द्वारा सम्पादित संग्रह में 'दशम ग्रंथ' की रचनाओं का क्रम इस प्रकार है—

1. जापु
2. विचित्र नाटक
   (क) अपनी कथा
   (ख) चण्डी चरित्र (दोनों)
   (ग) विष्णु के चौबीस अवतार
   (घ) उप-अवतार (ब्रह्मा और रुद्र के)
   (च) अंतिका (स्फुट सवैए और रागों के शबद)
3. शस्त्रनाम माला
4. ज्ञान प्रबोध
5. अकाल स्तुति
6. चण्डी दी वार
7. चरत्रोपाख्यान
8. जफ़रनामा

संक्षिप्त परिचय

गुरु गोबिंद सिंह की सभी रचनाओं को छह भागों में विभाजित किया जा सकता है। (1) भक्तिपरक (जापु, अकाल, स्तुति और स्फुट छंद) (2) आत्म-कथात्मक (विचित्र नाटक) (3) अवतारपरक (चंडी चरित्र, विष्णु, रुद्र और ब्रह्मा की अवतार कथाएँ) (4) युद्धपरक (शस्त्रनाम माला) (5) लोक-कथापरक (उपाख्यान चरित्र कथाएँ) तथा (6) फ़ारसी रचनाएँ (ज़फ़रनामा और हिकायतें)।

भक्ति रचनाएँ

जापु : 'दशम ग्रंथ' संग्रह की 'जापु' पहली रचना है। 'दशम ग्रंथ' की रचनाएँ, अपने रचनाकाल-क्रमानुसार, संगृहीत नहीं हैं। न ही संपादन आदिग्रंथ की भाँति हुआ है, फिर भी 'दशम ग्रंथ' के संपादक भाई मनीसिंह के सम्मुख संपादन करते समय आदिग्रंथ का आदर्श अवश्य रहा होगा। आदिग्रंथ में गुरु नानक की रचना 'जपुजी' सर्वप्रथम संगृहीत की गई है। इसी प्रकार 'दशम ग्रंथ' के प्रारम्भ में 'जापु' को रखा गया है।

'जपुजी' और 'जापु' की भावभूमि में एक मूलभूत एकता भी है। 'जपुजी' में गुरु नानक पहले कुछ शब्दों में अपने इष्टदेव की कल्पना देते हैं, फिर सम्पूर्ण रचना

में उसकी व्याख्या करते हैं। वे प्रारम्भिक शब्द जिन्हें सिख-मत में मूलमंत्र कहा जाता है, इस प्रकार हैं—

एक ओंकार, सतिनाम, कर्त्तापुरख, निरभउ, निरवैरू, अकाल मूरति, अजूनी, सैभं, गुरु प्रसादि (परमेश्वर एक है, उसका नाम (ही) सत्य है, वह सृष्टि का रचियता और उसी में व्याप्त है, उसे किसी का भय नहीं, उसकी किसी से शत्रुता नहीं, उसका स्वरूप समय और मृत्यु से रहित है, वह योनियों में नहीं पड़ता, वह स्वयं से प्रकाशित है और वह गुरु-कृपा से प्राप्त होता है।)

'जपुजी' का यह मूलमंत्र सूत्रात्मक है। 'जापु' का प्रथम छंद व्याख्यात्मक है। किन्तु दोनों की अभिव्यंजना समान है। 'जापु' के प्रथम छंद में ब्रह्म के इस स्वरूप का वर्णन है—

चक्र चिह्न अरू बरन जात अरू पात नहिन जिह।
रूप रंग अरू रेख भेख कोउ कहि न सकति किह।।
अचल मूरति अनुभउ प्रकास अभितोज कहिज्जै।
कोटि इन्द्र इन्द्राणि साहि साहाणि गणिज्जै।।
त्रिभुवन महीप सुर नर असुर नेत-नेत बन त्रिण कहत,
तब सरब नाम कत्थै कवन करम नाम बरणत सुमत।। 1 ।।

(वह चक्र, चिह्न, वर्ण, जाति-पाँत से रहित है। उसके रूप-रंग और रेखा, तथा वेश को भी कोई कह नहीं सकता। वह अचल मूर्ति है, अनुभव से प्रकाशित है और महान शक्तिशाली है। कोटियों इन्द्रों का इन्द्र और महाराजाओं का महाराजा वह गिना जाता है। त्रिलोक के राजा, देवता, मनुष्य और असुर तिनके के समान अपनी स्थिति स्वीकार कर उसे 'नेति-नेति' कहते हैं। उसके सम्पूर्ण रूप को व्यक्त करने वाले सर्वनाम को कौन कहे, बुद्धिमान लोग उसके कर्म नामों का ही वर्णन करते हैं।)

अपने-नाप के अनुकूल ही यह रचना विशुद्ध जपनीय है। जप का अर्थ ही है कि किसी मंत्र या वाक्य का बार-बार, धीरे-धीरे पाठ करना। इस रचना में भक्त गुरु गोबिंद सिंह ने अनेक विधि से अपने इष्ट का जप किया है। जप के लिए इष्ट के कर्मों, उसके प्रभावों एवं उसके विविध रूपों की विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता नहीं पड़ती। कभी-कभी तो जप के लिए एक शब्द ही पर्याप्त होता है और साधक बार-बार उसे पुकारता हुआ अपने-आप को उस शब्द में केन्द्रित कर लेता है। जप

का उद्देश्य ही आत्मविस्मृति है, इसलिए दीर्घ छन्दों, विभिन्न अलंकारों एवं अनेकानेक दृश्यों के वर्णन से युक्त कविता उस आत्मविस्मृति में कभी सहायक नहीं हो सकती, कदाचित बाधक बन सकती है।

जप के स्वभाव के अनुरूप 'जापु' में छोटे छन्दों का प्रयोग है। अलंकारों में अनुप्रास प्रधान है।

अकाल स्तुति : गुरु गोबिंद सिंह की दूसरी विशुद्ध भक्तिपूर्ण रचना 'अकाल स्तुति' के नाम से प्रसिद्ध है। इस रचना में कुल 271 छन्द हैं तथा मुख्य रूप से इन छन्दों का प्रयोग हुआ है—

चौपाई, कवित्त, सवैया, तोमर छन्द, लघु नराज छन्द, भुजंगप्रयात, पाधड़ी, तोटक, नराज, रुआमल, दोहरा, दीर्घ त्रिभंगी छन्द।

गुरु गोबिंद सिंह के दार्शनिक विचारों एवं भक्ति-भावना को समझने के लिए यह रचना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

'अकाल स्तुति' के प्रथम दस छन्द चौपाई में हैं, जिनमें कवि ने अपनी ब्रह्म सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट किया है। भारतीय धर्म-साधना में ओ३म् का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। सिख-साधना में भी इसके महत्व को अंगीकृत किया गया है। आदि गुरुग्रंथ साहिब का प्रारम्भ ही 'ओंकार' से होता है। गुरु नानक ने ओंकार से सम्पूर्ण सृष्टि के निर्माण की परम्परागत धारणा का अपने इन शब्दों में समर्थन किया है—

> ओंकार ब्रह्मा उतपति। ओंकार कीआ जिनि चिति।
> ओंकर सैल जुग भए। ओंकर वेद निरमए।।
> ओंकर सबद उधारे। ओंकार गुरुमुख तारे।
> ओम् अखर सुनहु बीचार। ओम् अखर त्रिभुवन सार।।

तृतीय गुरु अमरदास ने भी यही भावाभिव्यक्ति की है—

> ओंकार सभ सृष्टि उपाई।

'अकाल स्तुति' की प्रथम चौपाई भी इसी भाव का समर्थन करती है—

> प्रणवो आदि एकंकारा। जल-थल महीअल कीओ पसारा।।
> आदि पुरख अविगत अविनासी। लोक चतुर्दस जोति प्रकासी।। 1 ।।

वह सर्वव्यापी है—

> हस्त कीट के बीच समाना। राव रंक जिह इक सर जाना।

अद्वै अलख पुरख अविगामी। सब घट-घट के अन्तरजामी।। 2 ।।

इन दस चौपाइयों के पश्चात् 10 कवित्त हैं। इन कवित्तों में कवि ने बड़ी प्रवाहमयी भाषा में ईश्वर की सर्वव्यापकता, अनेकरूपता, उस अनेकरूपता में अन्तर्निहित एकरूपता आदि को चित्रित किया है। दो-एक उदाहरण समीचीन होंगे—

कतहूँ सुचेत हुइकै चेतना को चार कीओ,
कतहूँ अचिन्त हुइकै सोवत अचेत हो।
कतहूँ भिखारी हुइकै माँगत फिरत भीख,
कहूँ महादानि हुइकै माँगिओ दान देत हो।।
कहूँ महाराजन को दीजत अनन्त दान,
कहूँ महाराजन ते छीन छित लेत हो।
कहूँ वेद रीति कहूँ तासिउ विपरीत,
कहूँ त्रिगुन अतीत कहूँ सुरगन समेत हो।।

स्फुट छन्द : दशम ग्रंथ में रुद्रावतार के पश्चात् संगृहीत स्फुट छन्दों की कुल संख्या 47 है। इसमें 10 पद हैं, 36 सवैये और एक दोहा है। इन छन्दों में 10 पद और 33 सवैये तो भक्ति-भाव से लिखे हैं और अंतिम चार (3 सवैये और एक दोहा) किन्हीं मिश्र जी को सम्बोधित किए गए हैं।

भक्ति-भाव से लिखे गए छन्दों का गुरु गोबिंद सिंह की भक्ति-भावना के निर्धारण में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। आरम्भिक 10 पद तो वैष्णव भक्तों की पदावली का स्मरण कराते हैं। इन पदों में योग के बाह्याचारों का खंडन है—

रे मन ऐसो करि संनिआसा।
बनसे सदन सबै करि समझहु मनही माह उदासा।।
जत की जटा जोग को मज्जनु नेम को नखन बढाउ।
निआन गुरु आतम उपदेसहु नाम विभूति लगाउ।। 2 ।।

द० ग्रं० पृ० 709

रे मन इह बिधि जोग कमाउ।।
सिंगी साधु अकपट कंठला। धिआन विभूत चढ़ाउ।। 2 ।।

द० ग्रं० पृ० 720

पवित्र हृदय और पवित्र कर्म से प्रेरित होकर भगवान के चरणों में जाने की प्रेरणा है—

प्रानी परम पुरख पग लागो।।
सोवत कहा मोह निद्रा में कबहूँ सुचित ह्वै जागो।।

द० ग्र०, पृ० 720

अवतारवाद का विरोध है—

बिन करतार न किरतम मानो।।
आदि अजोन अजै अबिनासी तिह परमेसर जानो।।

दं० ग्र०, पृ० 720

मूर्ति-पूजा की निस्सारता का वर्णन है—

एक बिन दूसर सो न चिनार।
भंजन घड़न समरथ सदा प्रभु जानत हैं करतार।।
कहा भइउ जो अति हित चित कर बहुबिध सिला पुजाई।
पान थकिउ पाहिन कह परसत कछ कर सिद्ध न आई।।

द० ग्रं०, पृ० 7

इन दस पदों में एक 'ख्याल' पंजाबी भाषा में है। कहते हैं कि इस 'ख्याल' की रचना गुरु गोबिंद सिंह ने अपने चारों पुत्रों के बलिदान के बाद की थी। इस रचना के द्वारा कवि ने अपने प्यारे मित्र परमेश्वर को अपनी वर्तमान स्थिति का मार्मिक परिचय कराया है—

मित्तर पिआरे नूँ हालु मुरीदां दा कहणा।
तुधु बिन रोगु रजाइयाँ दा उढ़ण नाग निवासां दे रहणा।।
सूल सुराही खंजरू पियाला विंग कसाइयाँ दा सहणा।
यारड़े का सानू संधरू चंगा भट्ठ खेडियाँ दा रहणा।।

द० ग्र०, पृ० 2

(प्रिय मित्र को हमारी दशा बताना। तुम्हारे बिना रजाई रोग को ओढ़ने के समान है। चारों ओर सापों का निवास है। मदिरा की सुराही सूली बन गई है, प्याला कसाई का खंजर जैसा लगता है। तुम्हारा साथ बुरी अवस्था में भी अच्छा है, परन्तु तुम्हारे बिना सुविधा का जीवन भी नरकवत् है।)

करूण भाव का यह छन्द गुरु गोबिंद सिंह की कल्पनाशील भावभिव्यक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

33 सवैयों में भी गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी भक्ति-भावना का परिचय दिया है। इन सवैयों का स्वर 'अकाल स्तुति' में संगृहीत सवैयों के समान ही है। इनमें आदि शक्ति से परिपूर्ण चिरन्तन और शाश्वत ईश्वर की स्तुति है—

आदि अद्वैख अभेख महाप्रभु सति सरूप सु जोत प्रकासी।
पूर रहो सबही घट के पट तत्त समाधि सुभाव प्रनासी।।
आदि जुगादि जगादि तुही प्रभ फैल रहो सभ अंतरि बासी।।
दीन दयाल कृपाल कृपा कर आदि अजोन अजै अबनासी।। 3 ।।

द० ग्रं०, पृ० 712

विचित्र नाटक : आत्मकथा की परम्परा

भारतीय साहित्य में आत्मकथा लिखने की कोई पुष्ट परम्परा नहीं है। हिन्दी में जैन कवि बनारसी दास (सन् 1586-1644) द्वारा रचित अर्ध-कथा को हिंदी की सर्वप्रथम आत्मकथा माना जाता है। प्राचीन साहित्य में किंचित आत्म-कथात्मक सामग्री तो यत्र-तत्र मिल जाती है, किन्तु इस देश में सुनिश्चित और व्यवस्थित आत्मकथाओं के लिखे जाने का विशेष प्रचलन नहीं रहा। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में हमें दूसरी आत्मकथात्मक कृति गुरु गोबिन्द सिंह रचित 'विचित्र नाटक' ही दिखाई देती है, जिसमें उनके जीवन के कुल 42 वर्षों की आयु में से 32 वर्ष तक की आयु की कुछ घटनाओं एवं प्रसंगों का चित्रण मिलता है।

गुरु गोबिंद सिंह द्वारा रचित 'दशम ग्रंथ' लगभग 1400 मुद्रित पृष्ठों का एक विशाल ग्रंथ है। इस ग्रंथ के लगभग 700 पृष्ठों में अनेक अवतार-कथाओं का वर्णन है, जिनमें चंडी-चरित्र, विष्णु के चौबीस अवतार, ब्रह्मा के सात और रुद्र के दो अवतार सम्मिलित हैं। 700 पृष्ठों की इस वृहद्काय सामग्री को विचित्र नाटक का अभिधान दिया गया है और सभी रचनाओं के प्रकरणांत में 'इति सी बचित्र नाटक ग्रंथ धिआइ समापन सुभ मस्तु' लिखा गया है। परन्तु जहाँ अन्य सभी अवतार-कथाओं को अपने स्वयं के अभिधान भी प्राप्त हैं, जैसे 'इति स्री बचित्र नाटक ग्रंथ कृसनावतारे' अथवा 'इति स्री बचित्र नाटक चंडी चरित्रे' आदि, ऐसा कोई स्वतंत्र नाम इस विशाल ग्रंथ में गुरु गोबिंद सिंह के स्वयं के आत्म-कथात्मक अंश के लिए नहीं दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि 'दशम ग्रंथ' के अध्ययन में जहां अन्य

अवतार-कथाओं को 'चंडी चरित्र', 'रामावतार' 'कृष्णावतार' अथवा 'रुद्रावतार' नाम से जाना जाता है, वहाँ केवल गुरु गोबिंद सिंह के आत्मकथा-भाग को ही 'विचित्र नाटक' (बचित्र नाटक) कहने की परम्परा बन गई है।

नाम की सार्थकता : 'विचित्र नाटक' रूढ़ अर्थों में कोई नाट्यकृति नहीं है, परन्तु अपने व्यापक और प्रतीकात्मक अर्थों में यह नाम बहुत सार्थक है और रचियता की अन्तर्दृष्टि का परिचय देता है। आखिर यह सृष्टि है क्या ? यह सृष्टिकर्ता का एक विशाल परन्तु बेहद विचित्र नाटक ही तो है। एक कुशल निर्देशक की भाँति वह सृष्टि के रंगमंच पर अनेक परस्पर विरोधी तत्वों को प्रस्तुत करता है और इस प्रकार सत् और असत् तत्वों के बीच संघर्ष उत्पन्न करता है। कुछ समय के लिए असत् तत्व अधिक शक्तिशाली होकर 'सत्' तत्वों को दबा देते हैं। फिर किसी महापुरुष या अवतार का जन्म होता है, जो सत् तत्वों को संगठित करके असत् तत्वों से युद्ध करता है और उनका विनाश करके 'धर्म' की स्थापना करता है।

संसार का यह चक्र 'काल पुरुष' के लिए तो एक नाटक ही है। 'चंडी चरित्र' (उक्ति बिलास) में गुरु गोबिंद सिंह ने इसे उसका 'तमाशा' कहा है, जिसका वह निर्माता भी है और दर्शक भी—

> आदि अपार अलेख अनंत अकाल अभेख अलक्ख अनासा।
> कै सिव सकत दए श्रुति चार रजो तम सत तिहू पुर बासा।।
> दिउस निसा ससि सूर कै दीप सु सृष्टि रची पंच तत प्रकासा।
> बैर बढ़ाइ लराइ सुरासुर आपह देखत बैठ तमासा।।

—द० ग्र०, पृ० 74

इस सृष्टि-रूपी नाटक का सूत्रधार अपनी इच्छानुसार पता नहीं कितनों को मिटाता है, उनका पुनर्निर्माण करता है, उन्हें फिर नष्ट करता है, फिर बनाता है। काल की क्रिया को आज तक कोई नहीं पहचान सका। बहुतों पर यह सब कुछ बीत चुका है और बहुतों पर भविष्य में बीतेगा—

> कई मेट डारे उसारे बनाए।
> उपारे गढ़े मेटे उपाए।।
> क्रिया काल जू की किनू न पछानी।
> घन्यो पे बिहै है घन्यो पे बिहानी।। 26 ।।

—विचित्र नाटक, प्रथम अध्याय

गुरु गोबिंद सिंह की दृष्टि में इस नाटक की सबसे बड़ी विचित्रता या विसंगति यह है कि 'काल पुरुष' जिस व्यक्ति को असत् तत्वों के विनाश के लिए अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजता है, कभी-कभी वही व्यक्ति मार्गच्युत् होकर विपरीत दिशा में काम करने लगता है। तब काल-पुरुष उसे भी दंडित करता है। 'विचित्र नाटक' के छठे अध्याय में दानवों, देवताओं, अवतारों आदि का उल्लेख करता हुआ कवि कहता है कि जब काल-पुरुष ने मुझे संसार में जाकर जन्म लेने की आज्ञा दी तो साथ में यह भी कहा कि जिन व्यक्तियों को प्रभु का साक्ष्य बनाकर भेजा गया था, वे संसार में आकर स्वयं भगवान बन बैठे। उन्हें ईश्वर का संदेश तो विस्मृत हो गया, मात्र अपनी शोभा की ही वे चिंता करने लगे—

जे प्रभु साख नमित ठहराए।
तै हिआं आइ प्रभु कहवाए।।
ताकी बात बिसर जाती भी।
अपनी-अपनी परत सोभ भी।। 2 ।।

—**विचित्र नाटक,** छठा अध्याय

सृष्टि का यह क्रम सत् और असत् तत्वों का निरन्तर संघर्ष, सत् की रक्षा हेतु व्यक्तियों का जन्म, 'असत्' का विनाश, उस विनाश में से एक नये प्रकार के 'असत्' का बीजारोपण, फिर उसकी उन्नति, फिर संघर्ष, फिर विनाश, फिर जन्म-यह विचित्र नाटक निरन्तर ही चलता रहता है। यह सम्पूर्ण क्रम तो विचित्र है ही, स्वयं गुरु गोबिंद सिंह का जन्म और जीवन भी इस विशाल विचित्रता भरे नाटक का ही एक दृश्य है।

विधागत स्वरूप : 'विचित्र नाटक' को 'चरित्र काव्य' की कोटि में रखा जा सकता है। संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में चरित काव्यों की एक पुष्ट परम्परा है। सामान्यतः चरितकाव्य की शैली जीवनचरित्र की शैली होती है। उनमें प्रारम्भ में या तो ऐतिहासिक ढंग से नायक के पूर्वज, माता-पिता और वंश का वर्णन रहता है या पौराणिक ढंग से उसके पूर्व जन्मों का वृतान्त तथा उसके जन्म के कारणों का वर्णन होता है अथवा कथा-काव्य की तरह उसके माता-पिता, देश और नगर का वर्णन रहता है। उसमें चरित नायक के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक की अथवा कई जन्मों की कथा होती है। चरितकाव्य प्रायः उद्देश्य प्रधान होता है। यह उद्देश्य कभी धार्मिक कभी प्रशस्तिमूलक और कभी

लोक-कल्याणकारी होता है।

'विचित्र नाटक' पूरी तरह इसी परम्परा का एक चरितकाव्य नहीं है। यह 'आत्म-चरित काव्य' है। काव्य का रचियता स्वयं काव्य का नायक भी है। शैली की दृष्टि से इस पौराणिक-ऐतिहासिक शैली का संयुक्त रूप कहा जा सकता है। पौराणिक परम्परा के अनुसार नायक के पूर्व जन्म का वृतांत तथा उसके जन्म के कारणों का इस काव्य में विशद वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से नायक के वर्तमान जीवन के एक भाग को पूरी अन्तर्ग्रस्तता और वस्तुपरकता से चित्रित किया गया है। उद्देश्य की दृष्टि से यह निश्चित ही लोक-कल्याणकारी काव्य है, क्योंकि स्वयं कवि नायक ने इस रचना में इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति अनेक स्थानों पर की है—

हम इह काज जगत मो आए।
धरम हेतु गुरुदेव पठाए।।
जहाँ-तहाँ तुम धरम बिथारो।
दुष्ट दोखियन पकरि पछारो।।
याही काज धरा हम जनमं।
समझ लेहु साधू सभ मनमं।।
धरम चलावन संत उबारन।
दुष्ट सभन को मूल उपारन।। 43 ।।

—**विचित्र नाटक,** छठा अध्याय

अध्ययन की सुविधा के लिए इस रचना को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1.स्तुति भाग (प्रथम अध्याय-101 छंद)

2. सृष्टि की उत्पत्ति और स्ववंश परम्परा की पुराण शैलीबद्ध पृष्ठभूमि (द्वितीय अध्याय से षष्ठ अध्याय तक-178 छंद)

3. स्वजीवन का इतिहास-शैलीबद्ध वर्णन
(सप्तम अध्याय से चतुर्दश अध्याय तक-162 छंद)

स्तुति भाग-रचियता की ईश भावना : 'विचित्र नाटक' का स्तुतिपरक अंश सम्पूर्ण रचना के आकार की दृष्टि से बड़े कलेवर को घेरे हुए हैं। प्रथम अध्याय में 101 छंद विशुद्ध स्तुतिपरक हैं, जो संपूर्ण रचना के पाँचवें भाग से अधिक हैं।

ग्रंथ के पहले दोहे में कवि ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए 'श्रीखड्ग' को नमस्कार करता है—

> नमस्कार स्री खड्ग को करो सु हितु चितु लाइ।
> पूरन करो गिरंथ इहु, तुम मुहि करहु सहाय।। 1 ।।

गुरु गोबिंद सिंह ने अपने ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए 'श्रीखड्ग' का नमन किया है। 'विचित्र नाटक' और समग्र रूप से 'दशम ग्रंथ' में वीरभावमूलक ईश भावना बड़े व्यापक रूप से विद्यमान है। यही वह बिन्दु है जो कवि की रचनादृष्टि को समझने में हमारी सर्वाधिक सहायता करता है।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योगय है कि साधारणतः सभी विचारों और रसों के कवि अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्ति के लिए ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की स्तुति करते आये हैं और वे वीणापाणि से ही इस प्रकार का वरदान मांगते रहे हैं, किन्तु गुरु गोबिंद सिंह इस कार्य के लिए खड्ग, खड्गपणि या शक्ति की देवी भगवती का ही स्मरण करते हैं।

स्तुति के इन 101 छंदों मैं अधिकांश में इष्ट के वीर रूप की ही अभ्यर्थना की गई है—

> निरंकार नित्यं निरूपं निबाणं।
> कलं कारणेयं नमों खड्ग पाणं।।
> करं बाम चापयं कृपाणं करालं।
> महातेज तेजं बिराजे बिसालं।।
> महादाढं सुं सोहं अपारं।
> जिनें चर्वियं जीव जग्यं हजारं।।

स्तुति खंड के अंतिम दस सवैया छंदों की ध्वनि भुजंग प्रपात, रसावल और नराज छंदों में वर्णित स्तुति की अपेक्षा अधिक विनय और निवेदन भरी है—

> मेरु करो तृणते मुहि जाहि गरीबनिवाज न दूसर तोसों।
> भूल छिमों हमरी प्रभु आपन, भूलनहार कहूँ कोऊ मोसों।।
> सेव करी तुमरी तिनके सभ ही गृह देखियत द्रव्य भरोसों।
> या कलि में सभकाल कृपाण के, भारी भुजान को भारी भरोसो।।

सृष्टि की उत्पत्ति और स्ववंश-परम्परा : विचित्र नाटक का यह भाग सबसे

अधिक विवादास्पद, चौंकानेवाला और मिथकीय तत्वों से भरा हुआ है, इसीलिए गंभीर विश्लेषण एवं व्याख्या की अपेक्षा करता है। इस रचना के स्तुतिपरक भाग को छोड़कर शेष दोनों भाग कथात्मक हैं—एक में सृष्टि की उत्पत्ति और सोढी वंश की पूर्व परम्परा का वर्णन है और दूसरे में गुरु गोबिंद सिंह के जीवन-जन्म से लेकर 32 वर्ष तक की आयु तक—के कार्यों और घटनाओं आदि का वर्णन है।

'विचित्र नाटक' इस दृष्टि से भी भारतीय साहित्य की एक ऐसी अनोखी रचना है, जिसमें पुराण-तत्व और समकालीन जीवन इस तरह सृजित हुए हैं।

पुराण क्या है ? सायण ने परिभाषा करते हुए कहा है कि 'पुराण' वह है जो विश्व-सृष्टि की आदिम दशा का वर्णन करता है। वायु पुराण ने 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति 'पुरा', प्राचीन काल में, पहले साँस लेने या जीने से की है। अतः इसके अनुसार 'पुराण' का शब्दिक अर्थ है—जो अतीत में जीवित है या जो प्राचीन काल में साँस लेता है।

'विचित्र नाटक' के इस भाग को इतिहास की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। पुराण उस अर्थ में इतिहास नहीं है, जिस अर्थ में हम आज इतिहास शब्द को ग्रहण करते हैं। प्राचीन साहित्य में भी 'इतिहास पुराणम्' एक सामासिक शब्द के रूप में व्यवहृत होने पर भी अलग-अलग अर्थ देते थे। पुराण रचना में रचनाकार अपनी कल्पना-शक्ति का पूरा उपयोग करता है।

आत्मकथा : 'विचित्र नाटक' के तीसरे भाग (सातवें अध्याय से चौदहवें अध्याय तक) को आधुनिक अर्थों में 'आत्म कथा' कहा जा सकता है। इसमें वर्णित सभी घटनाएं तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्यों के सर्वथा अनुरूप हैं और कवि ने इन घटनाओं एवं चरित्रों के वर्णन में कल्पनाजनित आख्यानों का आश्रय न लेते हुए तथ्यों का (वस्तुपरक) चित्रण किया है। विचित्र नाटक के इस अंश में वर्णित सभी घटनाएँ एवं पात्र इतिहाससम्मत हैं। कवि के माता-पिता का पूर्वी भारत की यात्रा पर जाना, पटना में जन्म लेना, फिर पंजाब वापस आना, पिता का बलिदान, पहाड़ी राजाओं और मुग़ल सेनाओं से युद्ध, औरंगज़ेब का क्रोधिक होकर अपने पुत्र (मुअज़्ज़म) को पंजाब भेजना आदि कवि के जीवन में घटित ऐसी घटनाएँ हैं, जिन्हें सफलतापूर्वक इतिहास की कसौटी पर कसा जा सकता है। चौदहवें संक्षिप्त अध्याय (11 छंद) में अकाल पुरुष के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन तथा भावी लेखन-योजनाओं का संकेत है।

जैसा कि कहा जा चुका है—'विचित्र नाटक' को आत्म-चरित काव्य की कोटि में रखा जा सकता है। गुरु गोबिंद सिंह से पूर्व चरितकाव्य-लेखन की परम्परा का सूत्रपात हो चुका था और उसमें पूर्व जन्मों के वृतांत तथा मुख्य चरित्र के जन्म के कारणों का वर्णन भी होता था। ये चरितकाव्य किसी महत्त्वपूर्ण चरित्र को आधार बनाकर कवियों द्वारा लिखे जाते थे। आत्मचरित काव्य के उदाहरण अपने साहित्य में नहीं हैं। इसलिए 'विचित्र नाटक' को साहित्य की एक सर्वथा नई विधा का प्रणेता काव्य और गुरु गोबिंद सिंह को ऐसी विधा का मौलिक सर्जक कलाकार माना जा सकता है।

अवतारपरक रचनाएँ

चण्डी चरित्र (प्रथम) उक्ति-विलास : 'दशम ग्रंथ' में चण्डी सम्बन्धी तीन प्रबन्ध रचनाएँ संगृहीत हैं। दो रचनाओं की भाषा ब्रज एवं एक की पंजाबी है। हिन्दी (ब्रज) रचनाएं अपने आकार में पंजाबी रचना से कहीं बड़ी हैं। दोनों हिन्दी रचनाओं 'चण्डी चरित्र' (उक्ति विलास) प्रथम एवं 'चण्डी चरित्र' (द्वितीय) में क्रमशः 233 एवं 262 छन्द हैं और पंजाबी रचना 'चण्डी दी वार', में कुल 55 छन्द हैं।

प्रथम चण्डी चरित्र मार्कण्डेय पुराण, अध्याय 81 से 93 तक में वर्णित 'देवी महात्मय' (दुर्गा सप्तशती) का स्वतन्त्र अनुवाद है। इस रचना में सात पूर्ण तथा एक अपूर्ण अध्याय है।

चंडी की बहुश्रुत कथा को कवि ने अद्‌भुत कथा कहा है। उसे वह सुन्दर भाषा में प्रस्तुत करना चाहता है—

> आइस अब जो होइ ग्रंथ तउ मैं रचौं।
> रतन प्रमुद कर वचन चीन तामै गचौं।।
> भाषा सुभ सभ करहो धरि हो कृत मैं।
> अद्‌भुत कथा अपार समझ करि चित मैं।। 6 ।।

'मार्कण्डेय पुराण' के 82वें अध्याय में लिखा है कि महिषासुर से पराजित देवता ब्रह्मा जी के नेतृत्व में वहाँ गए, जहाँ महादेव जी और गरुड़ध्वज भगवान विष्णु थे। उन्होंने उन्हें अपनी पराजय का वृतान्त सुनाया और महिषासुर के बध की प्रार्थना की। देवताओं की पराजय से क्रोधित भगवान विष्णु के मुख से एक महान् तेज निकला तथा उसी प्रकार ब्रह्मा और शंकर के मुख से भी एक तेज निकला।

इन्द्र आदि अन्य देवताओं के शरीर से भी महातेज निकलकर सबका तेज एक स्थान पर इकट्ठा हो गया। तब उन देवताओं ने देखा कि वह अत्यन्त तेज जलते हुए पहाड़ के समान हो गया और दिशाएँ ज्वालाओं से भर गईं। सब देवताओं के शरीर से निकला हुआ वह अतुल तेज एक स्थान पर एकत्रित होकर नारी-रूप हो गया। विभिन्न देवताओं के तेज से उनके विभिन्न अंग बने थे इस तरह शिवा का जन्म हुआ।

'चण्डी-चरित्र' में इस घटना का उल्लेख नहीं है। 'चण्डी-चरित्र' द्वितीय में इस सम्बन्ध में इतना ही उल्लेख कि महिषासुर से पराजित देवताओं ने कैलास पर्वत पर जाकर देवी की आराधना की और वह प्रगट हुई—

> प्रसन्न देवता भए। चरनं पूजबे धए।
> सनंमुखान ठढीयं। प्रणाम पान पढीयं।। 5 ।।

गुरु गोबिंद सिंह की पंजाबी रचना 'चण्डी दी बार' में भी प्रथम चण्डी चरित्र की भाँति दुर्गा के स्नानार्थ बाहर आने का वर्णन है। वहाँ इन्द्रादि देवता उसे मिलकर अपनी व्यथा सुनाते और सहायता की प्रार्थना करते हैं—

> एक दिहाड़े नावण आई दुरगा शाह।
> इन्द्र बिथा सुनाई अपने हाल दी।।
> छीन लुई ठकुराई साते दानवी।
> लोकी तिही फिराई दोही आपनी।। 4 ।।

(एक दिन दुर्गा स्नानार्थ आई। इन्द्र ने उसे अपनी व्यथा सुनाई—दानवों ने हमसे ठकुराई छीन ली है और तीनों ही लोगों में उन्होंने अपनी दुहाई फैला दी है।)

दुर्गा ने स्नानार्थ आने और देवताओं से भेंट करने की घटना का उल्लेख 'मार्कण्डेय पुराण' के 85वें अध्याय में है—

> एवं स्तवादियुत्कानां देवाना पत्र पार्व्वती।
> स्नातुमम्यामयो तोये जाह्व्या नृपनन्दन।। 37 ।।

(देवताओं के इस प्रकार स्तुति करने पर देवी पार्वती गंगा-स्नान करने के हेतु आई, और देवताओं के सम्मुख प्रगट हुई।)

चंडी-चरित्रों के रचियता के सम्मुख इस कथा की पौराणिक पृष्ठभूमि एवं संलग्न अनेक कथाएँ इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं, जितनी इस कथा के मूल स्वर। इसलिए कवि पौराणिक चर्चा का सूत्र-रूप में वर्णन कर तुरन्त मूल विषय पर आ जाता

है। इस पौराणिक प्रसंग के देशज भाषा में वर्णन की पृष्ठभूमि पर तत्कालीन जनता में वीर भावों की सृष्टि का महत् उद्देश्य था, इसलिए कवि के लिए इन कथाओं के मूल स्वर-युद्ध-प्रसंगों का विस्तृतवर्णन ही अभिप्रेत था।

'चंडी-चरित्र' का अंतिम अध्याय बहुत महत्त्वपूर्ण है। दैत्यों के बध के पश्चात् शान्ति स्थापित हो गई। जिन दैत्यों के आतंक से सभी देवता भयभीत थे, उनका संहार कर देवी ने संत पुरुषों की रक्षा की है—

संत सहाइ सदा जगमाइ।
सुंभ निसुंभ बड़े अरि जीते।। 225 ।।

सभी देवताओं ने मिलकर चंडी की स्तुति की—

मिलि कै सु देवन बडाई करी कालका की,
ए हो जगमात तै तो कटिउ बडो पाप है।।
दैतन को मार राज दीनौ तै सुरेस हूँ को,
बडो जस लीलो जग तेरो ई प्रताप है।।
देत है असीस दिजराज शिव बारि बारि,
तहा ही पढिउ ब्रह्मा कउचहूँ को जाप है।।
ऐसे जसु पूर रहिउ चंडका को तीन लोक,
जैसे धार सागर में गंगा जी को आपु है।। 227 ।।

देवताओं का तो उद्देश्य पूर्ण हो गया, किन्तु कवि ने किस उद्देश्य से प्रेरित होकर यह रचना की है ? यद्यपि कवि कहता है कि उसने इस रचना की सृष्टि अन्य किसी उद्देश्य से प्रेरित न होकर केवल 'कौतुक' के ही लिए की है—

कउतक हेत करी कवि ने,
सतसया की कथा इह पूरी भई है।।

किन्तु यह कौतुक क्या है ? इन रचनाओं का कवि केवल कवि ही तो नहीं है। न तो वह वीरगाथाकलीन प्रवृत्ति का कवि है, जो अपने आश्रयदाता को युद्ध के लिए प्रेरित करता है, चाहे उस युद्ध की पृष्ठभूमि किसी दूसरे राज्य की सुन्दर राजकुमारी का हरण कर लाना मात्र ही क्यों न हो। न ही वह भक्तिकालीन कवि है, जिसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति अपने इष्टदेव की प्रसन्नता प्राप्त कर, संसार के सुखों से विरत हो, वैयक्तिक मोक्ष की साधना में लीन हो ज़ाना मात्र है। न ही उसकी

प्रवृत्ति पूर्णतया रीतिकालीन है, जहाँ कवि अपने आश्रयदाता के स्वभाव के अनुकूल शृंगार या वीरतापूर्ण पदों की रचना करता है।

'चंडी-चरित्र' का रचियता मूलतः एक महान विद्रोही है, जो अपने युग के आसुरी शासन को नष्ट करने के लिए सक्रिय है, अर्थात् वह धर्मयुद्ध का आयोजन कर रहा है। उसका युद्ध केवल युद्ध नहीं है—धर्मयुद्ध है। इस युद्ध की तैयारी के लिए उसे सैनिक चाहिए, स्वयंसेवक चाहिए, धन चाहिए, अस्त्र-शस्त्र चाहिए, हाथी-घोड़े चाहिए, रसद-सामग्री, तम्बू, कनात आदि अनेकानेक वस्तुएँ चाहिए। किन्तु ये तो बाह्य उपकरण हैं। क्या सैनिकों, शस्त्रों, हाथी-घोड़ों, धन और रसद-पानी से युद्ध जीते जाते हैं ? 'चंडी-चरित्र' का रचयिता जानता था कि इन बाह्य उपकरणों की उपस्थिति में भी युद्ध हारे जा सकते हैं और इन उपकरणों के अभाव में भी युद्ध जीते जा सकते हैं। वह वस्तु जो संघर्ष में विजय प्राप्त करती है, इन बाह्य उपकरणों में न होकर हृदय में होती है।

बाह्य सामग्री के एकत्रीकरण के साथ-साथ गुरु गोबिंद सिंह ने इन रचनाओं की सृष्टि में उस मनोभाव को खोजा। कृष्णावतार में उन्होंने कहा—

> अवर वासना नाहिं प्रभु,
> धरम जुद्ध के चाइ।।

'चंडी-चरित्र' में भी वह यही चाहता है। इसलिए जहाँ मूल 'दुर्गा-सप्तशती' के ग्यारहवें-बारहवें अध्याय के लगभग 100 श्लोक दुर्गा की अलौकिक अतिरंजित स्तुति एवं 'दुर्गा-सप्तशती' के नियमित पठन एवं श्रवण से मिलनेवाले महात्मा से भरे पड़े हैं, गुरु गोबिंद सिंह ने इस अध्याय को कुल 4 छंदों में समाप्त कर दिया है और थोड़े ही में यह कह दिया है कि जो व्यक्ति जिस निमित्त इसे पढ़ेगा, वही चंडी उसे दे देगी—

> जाहि नमित पढै सुनि है नर सौ,
> निसचे करि ताहि दई है।। 232 ।।

कवि का अपना भी निमित्त है—

> ग्रन्थ सतिइआ कौ करिउ जा सम अवरु न कोइ।
> जिह नमित कवि ने कहिउ सु देह चंडका सोइ।। 232 ।।

कवि का निमित्त क्या है ? वही, जिसका उल्लेख उसने 'कृष्णावतार' में किया

है और जिसे वह इस रचना में इन शब्दों में व्यक्त करता है—

> देह सिवा बर मोहि इहै सुभ करमन तै कबहूँ न टरौं।
> न डरो अरिसौं जब जाइ लरौं निसचै कर अपनी जीत करौं।।
> अरू सिख हौ आपने ही मन को इह लालच हउ गुन तउ उचरौं।
> जब आव की अउध निदान बनै अति ही रन में जब जूझ मरौं।। 231 ।।

(हे शिवा, मैं शुभ कर्मों से कभी विरत न होऊँ। शत्रु से कभी न डरूँ, जब उससे जा लड़ूँ तो निश्चय ही अपनी जीत करूँ। अपने मन को सदा शिक्षा देता रहूँ और जब आयु की अवधि समाप्त होने पर आए तो धर्मयुद्ध में जूझकर वीर-गति प्राप्त करूँ।)

चंडी चरित्र (द्वितीय) : गुरु गोबिंद सिंह विरचित द्वितीय 'चंडी-चरित्र' की काव्य-शैली प्रथम 'चंडी-चरित्र' से भिन्न है। प्रथम 'चंडी-चरित्र' में सवैया प्रमुख छंद है और उसके साथ कवित्त, दोहा और चौपाई का प्रयोग हुआ है। 'चंडी चरित्र' (द्वितीय) में युद्ध की द्रुत, अति द्रुत और अल्प द्रुत आदि गतियों को नराज, रसावल, दोहा, भुजंगप्रयात, तोटक, चौपाई, मधुभार, रुआमल, कुलक, सौरठा, बिजै छंउ, मनोहर छंद, संगीत भुजंगप्रयात, बेलीविद्रम, वृद्धनाराज, संगीत मधुभार और संगीत नराज, कुल 17 छंदों का प्रयोग हुआ है और 57 बार छंद-परिवर्तन किया गया है।

प्रथम 'चंडी-चरित्र' के प्रथम अध्याय के 12 छंदों में से 6 छंदों में ब्रह्मा की स्तुति, चंडी की स्तुति, ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य और रचना प्रारम्भ की अनुमति प्राप्त करने का वर्णन करके राजा सुरथ का राज्यविहीन होकर मैधस ऋषि के आश्रय में जाना और उनसे चंडी की कथा-श्रवण का वर्णन है। इस अंश को प्रथम चंडी चरित्र की भूमिका या मंगलाचरण कहा जा सकता। किन्तु यह रचना (चंडी चरित्र-द्वितीय) बिना किसी भूमिका या मंगलाचरण के ही प्रारम्भ हो जाती है। प्रथम चंडी चरित्र में मधु और कैटभ दैत्यों की विष्णु के कान की मैल से उत्पत्ति, विष्णु द्वारा ही उनके विनाश का भी उल्लेख है। किन्तु द्वितीय चंडी चरित्र की कथा महिषासुर से आरम्भ होती है। वस्तुतः चंडी की कथा का सम्बन्ध महिषासुर के प्रकरण से ही होता है, जो उसे अस्तित्व के लाने का कारण है।

'चंडी-चरित्र' (द्वितीय) का प्रथम छंद है—

> महिक्ख दईत सूरयं। बढ़ियों सु लौह पूरयं।।
> सु देव राज जीतयं। त्रिलोक राज कीतयं।।

(महिषासुर नामक पराक्रमी दैत्य जो लौह पूरित है, शक्तिशाली हो गया। उसने इन्द्र को जीतकर त्रिलोक पर अपना राज्य स्थापित कर लिया।)

परिणामस्वरूप सभी देवता भयभीत हो, योगियों का वेष धारण कर कैलास पर्वत पर एकत्र हुए। उन्होंने अनेक वर्ष कष्ट सहकर जगत माता (दुर्गा) की आराधना की। अन्त में दुर्गा प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष हुई। देवताओं ने उन्हें अपनी व्यथा सुनाई और उन्हें प्रसन्न कर लिया। देवी ने सभी शस्त्रों को धारण कर सिंह की सवारी कर ली—

बिनन्त सुनाई। भवानी रिझाई।।
सबै सस्त्र धारी। करी सिंह सुआरी।। 8 ।।

आगे के छंदों में महिषासुर, शुंभ-निशंभु, धूम्रलोचन, चंड और मुंड, रक्तबीज आदि दैत्यों से युद्ध और उनके संहार का वर्णन है।

चौबीस अवतार

गुरु गोबिंद सिंह ने भारतीय धर्म ग्रंथों में वर्णित लगभग सभी अवतारों का चित्रण किया है। कुछ अवतारों की कथा विस्तार से कही गई है, यथा-कृष्णावतार, रामावतार और कल्कि अवतार तथा अन्य अवतारों का वर्णन बहुत संक्षित किया गया है। इन अवतार-कथाओं में विष्णु के 24, ब्रह्मा के 7 और रुद्र के 2 अवतारों का वर्णन है।

'दशम ग्रंथ' में वर्णित अवतारों का विवरण देने के पूर्व कवि की अवतार सम्बन्धी धारण को समझना बहुत आवश्यक है। सिख-परम्परा में अवतारों को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। सिख गुरुओं ने अवतारों का भी निर्माण करनेवाले सर्वशक्ति सम्पन्न ब्रह्म, जिसे उन्होंने अकाल या अकाल पुरुख के नाम से अभिहित किया है, पर ही अपनी अन्तिम आस्था केन्द्रित रखी है।

गुरु गोबिंद सिंह के पूर्ववर्ती नौ गुरु निराकार ईश्वर के उपासक हैं। उन्होंने परमात्मा को अनेक विशेषताओं से युक्त मानते हुए भी अवतारवाद का खंडन किया है।

वस्तुतः सिख गुरुओं की अवतार-भावना अद्वैत के बहुत निकट है। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म की सत्ता ही सत्य है, अन्य सब कुछ असत् है, मिथ्या है। असत् के प्रपंच की समस्याओं को सुलझाने के लिए इसमें ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्ति,

माया को भी स्वीकार किया जाता है। जिन्हें हम जीव कहते हैं, वे भी अंत में ब्रह्म के ही रूप हैं और यह जो जड़ जगत दिखाई दे रहा है, वह भी अपने नाम और रूप को छोड़कर उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है।

हिन्दी में जिन भक्त कवियों ने अवतारों की कथाओं का वर्णन किया है, वह विशुद्ध भक्ति-भावना से प्रेरित होकर ही किया है। इन भक्त कवियों की दृष्टि में ब्रह्म और ईश्वर में कोई भेद नहीं था, इसलिए जिन अवतारों को उन्होंने अपना इष्ट माना उनमें और ब्रह्म में उन्होंने कोई अन्तर स्वीकार नहीं किया। परन्तु गुरु गोबिंद सिंह की अवतार-कथा का चित्रण भक्ति-भाव से प्रेरित नहीं था। अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति के लिए उनके पास पूर्ववर्ती गुरुओं द्वारा प्रशस्त मार्ग था। 'अकाल स्तुति' और 'जापु' उनकी उसी मार्गानुगामी रचनाएँ हैं। अवतारों की कथा तो वे विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित होकर लिख रहे थे, इसलिए इन रचनाओं में अन्य भक्त कवियों के समान उन्होंने अवतारों के ईश्वरीय और अलौकिक महत्त्व-प्रतिपादन में इतनी रूचि नहीं ली, जितनी उनके जीवन-कार्यों के चित्रण में ली है।

प्रचलित मान्यता के अनुसार उन्होंने विष्णु के दस प्रमुख तथा चौदह गौण अवतार स्वीकार किए हैं। वैसे सम्पूर्ण अवतार-कथा-वर्णन में कौन-से दस प्रमुख हैं और कौन-से चौदह गौण हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख कवि ने नहीं किया है।

चौबीस अवतारों की नामावलि इस प्रकार है—

1. मच्छ (मत्स्य)
2. कच्छ (कच्छंप)
3. नर
4. नारायण
5. मोहिनी
6. बराह (वराह)
7. नरसिंह (नृसिंह)
8. बावन (वामन)
9. परसराम (परशुराम)
10. ब्रह्मा
11. रुद्र
12. जालन्धर

13. बिसन (विष्णु)
14. शेषशायी
15. अर्हन्तदेव
16. मान राजा
17. धनन्तर (धनवन्तरि)
18. सूरज (सूर्य)
19. चन्द्रमा
20. राम
21. कृष्ण
22. नर (अर्जुन)
23. बुद्ध
24. निहकलंकी (कल्कि)

इन अवतार-कथाओं में राम और कृष्ण की कथा का वर्णन अधिक विस्तार से किया गया है।

ब्रह्मा के सात अवतार

विष्णु के चौबीस अवतारों का वर्णन करने के पश्चात् कवि ने ब्रह्मा के सात अवतारों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया है। ये अवतार निम्नलिखित हैं—

1. बाल्मीकि, 2. कश्यप, 3. शुक्र 4. बाचेस (बृहस्पति) 5. ब्यास, 6. षट्ऋषि, 7. कालिदास।

इन अवतारों के वर्णन के पूर्व 41 छन्दों की एक भूमिका है, जिसमें कवि ने कालरूप ब्रह्म के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है। उस शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। सभी रंगों एवं रूपों में उसी का अस्तित्व देखा है :—

बिन एक दूसर नाहिं। सभ रंग रूपन माहि।।
जिह जापिआ तिह जाप। तिन के सहाई आप।। 4 ।।

उस महान् शक्ति के सम्मुख अनेक इन्द्र पानी भरते हैं, अनेक ब्रह्मा वेदों का गायन करते हैं, और उसके द्वार पर अनेक शिव बैठे रहते हैं। कृष्ण के कोटियों अवतार, राम के अनेक रूप, अनेक मच्छ (मत्स्य) कच्छा उसका द्वार देखा करते

हैं। अनेक शुक्र और बृहस्पति, अनेक दत्त और गोरख, अनेक राम, कृष्ण और रसूल सब उसकी दया के भिखारी हैं, उसका नाम जपते हैं क्योंकि बिना नाम-भक्ति के वह किसी को स्वीकार नहीं करता।

ब्रह्म की यह स्तुति 16 छन्दों में चलती है। 20वें छन्द में कवि कहता है कि विष्णु के चौबीस अवतारों का वर्णन करने के पश्चात् मैं उप अवतारों का वर्णन करता हूँ

गनि चउबिसे अवतार। बहुकै कहै बिसधार।
अब गनो उप अवतार। जिम धरे रूप मुरार।। 20 ।।

काल-पुरुष की आज्ञा से ब्रह्मा ने वेदों की रचना की। किन्तु अपनी इस रचना से ब्रह्मा को गर्व हो गया। वह अपने आपको बहुत बड़ा कवि समझने लगा। काल देव इस पर रूष्ट हुए और उन्होंने ब्रह्मा को पृथ्वी पर भेज दिया। ब्रह्मा ने यहाँ लाखों वर्षों तक काल-पुरुष की सेवा की। उसने अपना अभिमान त्याग दिया। काल-पुरुष ने ब्रह्मा की सेवा से प्रसन्न होकर कहा, "तुमने गर्व क्यों किया। यह मुझे भाता नहीं। तुम्हारा उद्धार तब होगा जब तुम पृथ्वी पर सात अवतार धारण करो।" इस आज्ञा को ब्रह्मा ने स्वीकार किया, और उसने पृथ्वी पर नये जन्म ग्रहण किए।

ब्रह्मा से काल-पुरुष ने एक बात और कही कि विष्णु मेरा प्रिय है। उसने अपनी सेवा से मुझे प्रसन्न किया है। उसने जो भी वर माँगा, मैंने उसे दिया है। सब लोक जानते हैं कि मुझमें और उसमें कोई भेद नहीं है। इसलिए विष्णु जब-जब अवतार धारण करें और जो पराक्रम करें, तुम उनका विस्तारपूर्वक वर्णन करो।

रूद्र अवतार

'दशम ग्रंथ' में रुद्र के केवल दो अवतारों का वर्णन मिलता है। यह वर्णन पर्याप्त विस्तृत हैं। प्रथम अवतार दत्तात्रेय के चित्रण में 498 छंद हैं तथा दूसरे अवतार पारसनाथ का 358 छन्दों में वर्णन है।

ज्ञान प्रबोध

'ज्ञान प्रबोध' गुरु गोबिंद सिंह की एक तात्विक रचना है, जो पौराणिक कथा और पृष्ठभूमि से समन्वित है। इस रचना को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. स्तुति भाग, 2. पौराणिक कथा से पुष्ट तत्वज्ञान भाग।

प्रथम भाग में 125 छंद हैं, जो विशुद्ध रूप से ब्रह्म या अकाल पुरुष की स्तुति से पूर्ण हैं। इन पदों में कवि ने ब्रह्म विषयक अपनी उसी धारणा की पुष्टि की है जो भक्ति रचनाओं 'जापु' और 'अकाल-स्तुति' के माध्यम से प्रकट हुई है।

वह कभी रूप, रेखा, वास, वेश, नाम अथवा वर्णन के अन्दर नहीं आता। वह योनियों से परे है। वह वीर रूप दुष्टों का दलनकर्त्ता है। वस्तुतः उसका खल-दल खण्डन रूप इस स्तुति अंश में भी प्रमुख है—

खल दल बल हरणं दुष्ट विदरणं असरणं सरणं अमित गतं।
चंचल चख धारण मच्छ बिडारन पाप प्रहाण अमित मतं।।
आजान सुबाहं साहन साहं महिमा महं सरब मई।
जल थल बन रहिता बन त्रिन कहिता खलदलि दहिता सुनरिंसही।।
10 ।। 30 ।।

बेद भेद नहिं लेखै ब्रह्म ब्रह्मा नंहि बुज्झै।
विआस परासर सुक सनादि सिब अन्तु न सुज्झै।।
सनति कुआर सनकादि सरब जिउ समा न पावहि।
लख लखमी लख बिसन किसन कई नेत बतावहि।।
असंख रूप अनभै प्रभा अति बलिस्ट जलि थलि करण।
अच्चुत अनन्त अद्वै अमित नाथ निरंजन तव सरण।। 12 ।। 32 ।।

इस प्रकार 125 छंदों के इस खण्ड में भक्त ने अपने आराध्य के प्रति अपनी आस्था प्रगट की है।

द्वितीयांश का प्रारम्भ एक तात्विक प्रश्न से होता है—

एक दिन जीवात्मा ने आश्चर्यान्वित होकर ईश्वरात्मा से पूछा—वह कौन है जिसका अतिम तेज है और जो अद्भुत विभूति है ?

परमात्मा ने उत्तर दिया—हे जीवात्मा यह ब्रह्म है, जिसका अमित तेज है, जो कामनारहित है; जिसमें भेद, भ्रम, कर्म और काल नहीं है; जो शत्रु-मित्र सब पर कृपा रखता है, जो पानी में डूबता नहीं, (वायु से) सुखाया नहीं जा सकता, काटने से काटा नहीं जाता, अग्नि से जलता नहीं, सहस्रों शस्त्रों से जिसकी हानि नहीं होती, जिसका कोई शत्रु-मित्र, जाति-बिरादरी नहीं है; यदि सहस्रों शत्रु एकत्र होकर उस पर प्रहार करें तो भी वह छेदा नहीं जा सकता, खंडित नहीं होता, अग्नि में जलता

नहीं, सिंधु में डुबोया नहीं जा सकता, वायु उसे सुखा नहीं सकती।

फिर आत्मा ने प्रश्न किया—संसार में जो चार वर्ग हैं, उनकी व्याख्या कीजिए।

परमात्मा ने उत्तर दिया—एक है राजधर्म, एक दानधर्म, एक भोगधर्म और एक है मोक्षधर्म।

'ज्ञान प्रबोध' में वर्णित ये चार वर्ग (धर्म) प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित पुरुषार्थ चतुष्ट्य अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ही हैं।

शस्त्रनाम माला

'शस्त्रनाम माला' गुरु गोबिंद सिंह की दृष्टकूट शैली में लिखी हुई एक वैचित्र्यपूर्ण रचना है। इस रचना में शास्त्रों का दैवीकरण कर उनकी स्तुति की गई है। युद्ध-भाव प्रेरित कवि ने अपनी इस रचना में स्पष्ट घोषणा की है कि कृपाण, खंडा, खड्ग, बन्दूक, गँड़ासा, तीर, तलवार, सरोही, बरछी आदि अस्त्र-शस्त्र ही उसके इष्ट हैं—

> अस कृपान खंडो, खड्ग तुपक तबर अरु तीर।
> सैफ सरोही सैहथी यहै हमारे पीर।।

इसके आगे के सभी छन्दों में कवि ने सभी अस्त्रों-शस्त्रों में उस महान कालशक्ति का ही आरोप किया है, जो उसका इष्ट है। वह महान शक्ति सर्व-व्याप्त है। वही दिन है, वही रात्रि है। वही जीवों की जन्मदाता है और अपने कौतुक के लिए उनमें (जीवों में) वाद-विवाद वह स्वयं ही उत्पन्न करती है। जितने भी अवतार हुए, वे भी उसी महान कालशक्ति के ही रूप हैं। अस्त्र-शस्त्रों के रूप में व्यक्त उस महान् काल-शक्ति से ही वे अपने शत्रुओं का विनाश, अपनी विजय और मनोकामना की पूर्ति का वरदान माँगते हैं।

चरित्रोपाख्यान

'दशम ग्रंथ' में 'चरित्रोपाख्यान' सर्वाधिक दीर्घ, साथ ही इस विशाल संकलन की सर्वाधिक विवादपूर्ण रचना है। वैसे तो सम्पूर्ण 'दशम ग्रंथ' का कर्तृत्व ही विवादास्पद रहा है, परन्तु जितना मतभेद इस रचना के सम्बन्ध में है, उतना अन्य किसी के सम्बन्ध में नहीं है।

'चरित्रोपाख्यान' एक बृहत् कथा-संग्रह है। कुल कथाओं में गणना तो 405

की दी गई है, परंतु इसकी संख्या लगभग 400 है। 325वीं कथा बीच में है ही नहीं तथा कुछ कथाएं एक से अधिक कथाओं में बँटी हुई हैं।

उद्देश्य : इन कथाओं के संग्रह की पृष्ठभूमि में क्या उद्देश्य हो सकता है ? प्राचीन काल में इस प्रकार की रचनाएँ किसी नैतिक उद्देश्य को दृष्टि में रखकर लिखी जाती थीं। पाठकों का मनोरंजन करना और उस मनोरंजन के माध्यम से किसी नैतिक तथ्य की प्रतिष्ठा करना इस कथाओं का उद्देश्य हुआ करता था। रोचक कथाओं को पढ़ने एवं सुनने की रुचि मनुष्य-मात्र में होती है। कौतूहल, शौर्य-प्रदर्शन, चतुराई, छल-प्रपंच, हास्य आदि बहुत-से विषय इन कथाओं में संजोए जाते रहे हैं। परन्तु स्त्री-पुरुषों के मध्य काम-व्यापार की कथाएं संसार-भर के सभी कथा-संग्रहों में प्रमुखता पाती रही हैं। नर-नारी का शारीरिक सम्बन्ध मनुष्य की सृजनात्मक प्रकृति का आदि काल से प्रेरणा-स्रोत रहा है। प्राकृत-लोकजीवन में यह सम्बन्ध बड़ी मुखर काम-कथाओं के माध्यम से व्यक्त होता है। थोड़ी कलात्मक सूक्ष्मता ग्रहण कर यही सम्बन्ध साहित्य में 'रसराज' शृंगार के रूप में प्रतिष्ठित होता है और यही रति-भाव अति सूक्ष्म होकर भक्तिभाव में परिणत हो जाता है।

'चरित्रोपाख्यान' की अधिकांश कहानियों का केन्द्रीय विषय भी स्त्री-चरित्र है और अनेक रूपों से उसके पुरुष-सम्बन्ध के द्वन्द्व को व्यक्त किया गया है। इन नारी पात्रों की कामुकता, प्रेम-भावना, शौर्य, चतुराई, कर्तव्यपरायणता आदि का वर्णन इन कथाओं में है।

कथा-सूत्र : 'चरित्रोपाख्यान' की लगभग चार सौ कहानियाँ जिस मूलकथा से सम्बद्ध की गई हैं, वह इस प्रकार हैं—

चित्रवती नामक नगरी में चित्रसिंह नाम का एक राजा था। इंद्रसभा की एक अप्सरा राजा का अनुपम रूप देखकर मोहित हो गई। उन दोनों के मिलन से एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम हनुवंतसिंह रखा गया।

कुछ वर्ष तक राजा के साथ आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत कर अप्सरा इंद्रलोक वापस चली गई। उसके पश्चात् राजा चित्रसिंह ने ओड़छा नरेश की कन्या चित्रमती से विवाह कर लिया। चित्रमती युवा राजकुमार हनुवंतसिंह पर मुग्ध हो गई और उसने उसके सम्मुख काम-प्रस्ताव रखा। हनुवंतसिंह ने विमाता के काम-प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। अपमानित चित्रवती ने हनुवंतसिंह से प्रतिशोध लेने के लिए राजा चित्रसिंह के सम्मुख उसके चरित्र पर मिथ्या आरोप लगा दिया।

राजा ने क्रोधित होकर राजकुमार को प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी। परन्तु राजा के चतुर मंत्री ने वास्तविकता बूझ ली और निर्दोष राजकुमार को बचाने के लिए राजा को अनेक 'त्रिया-चरित्र' सुनाने लगा। यह क्रम बहुत समय तक चलता रहा। प्रत्येक संध्या को राजगुमार बंदीगृह में भेज दिया जाता। प्रातःकाल उसे फिर बुला लिया जाता। तब मंत्री राजा को एक नई कथा सुनाने लगता।

परंतु 'चरित्रोपाख्यान' में अंत तक इस कथा-सूत्र का निर्वाह नहीं किया गया है। प्रत्येक कथा की समाप्ति पर कवि ने 'मंत्री भूप संवाद' का उल्लेख तो किया है, परन्तु अंत में परिणाम क्या हुआ, इसका कोई उल्लेख नहीं है। इस प्रकार जिस मूलकथा का अंग बनकर ये सभी कथाएँ उभरती हैं, वह मूल कथा अन्त के पूर्व ही तिरोहित हो जाती है और सभी कथाएँ स्वतन्त्र सत्ता धारण कर 'चरित्रोपाख्यान' को एक बृहत् कथा-संकलन मात्र बना देती हैं।

5
काव्य-सौष्ठव और भाषा

गुरु गोबिंद सिंह के काव्य में वीर रस की व्यंजना कदाचित उनके काव्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। साहित्य में जितने रस गिनाए गए हैं, उनमें शृंगार को छोड़कर और सब रसों से वीर रस की व्याप्ति बहुत अधिक है। शृंगार रस का रतिभाव जिस प्रकार सृष्टि के चराचर सब जीवों में पाया जाता है, उसी प्रकार वीर रस का 'उत्साह' भी सर्वत्र व्याप्त दिखाई देता है। शृंगार रस में हृदय की कोमल भावनाओं को तृप्त करता है, उसमें कर्मनिष्ठता मूलभूत नहीं है। वीर रस हृदय की भावनाओं की तृप्ति के साथ कर्मनिष्ठता मूलरूप से विद्यमान है। शृंगार रस जहाँ रस जहाँ केवल सहृदय के आभ्यन्तर पक्ष को तृप्त करके छोड़ देता है, वीर रस वहाँ आभ्यन्तर की तृप्ति के साथ-साथ कर्मनिष्ठता भी जागृत करता है।

वीरत्व लौकिक गुण है। समाज के उद्‌भव के साथ ही इसका भी आविर्भाव हुआ है। इससे विभूषित महापुरुषों का यश अनादि काल से गाया गया है। इसे लौकिक कहने का तात्पर्य यही है कि लोक के सम्पर्क में आने पर ही इसका उदात्त रूप व्यक्त होता है। आत्म-रक्षा के निमित्त अपने शरीर की पुष्टि करनेवाला व्यक्ति प्रशंसनीय हो सकता है, परन्तु उसके द्वारा वीरत्व का आलम्बन नहीं खड़ा हो सकता। जब अत्याचार के दमन, दुष्टों के निर्दलन और पीड़ितों के रक्षण की ओर वीरत्व उन्मुख होता है, तभी उसका सच्चा रूप निखरता है।

गुरु गोबिंद सिंह के युद्ध-चित्रण में दो प्रकार की शैलियाँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती हैं—

1. छंद प्रधान शैली, 2. अलंकार प्रधान शैली।

छंद प्रधान शैली में गुरु गोबिंद सिंह ने युद्ध-चित्रण का प्रत्यक्ष वर्णन किया

है। इसमें कवि अप्रस्तुत-विधान की योजना की ओर अधिक सचेष्ट नहीं है। 'दशम ग्रंथ' की रचनाओं में 'विचित्र नाटक', 'चंडी-चरित्र' (द्वितीय), 'रामावतार', 'निहकलंकी अवतार' आदि में इस प्रकार की शैली अपनाई गई है। ये सभी रचनाएँ युद्ध के गतिशील एवं कोलाहलपूर्ण चित्र उपस्थित करती हैं। युद्ध की अल्पद्रुत, द्रुत और अतिद्रुत गतियों को प्रस्तुत करने के लिए कवि ने छंद-वैविध्य और शीघ्र छंद-परिवर्तन का सहारा लिया है।

दूसरी शैली का मुख्य साधन अलंकार, विशेषरूप से सादृश्यमूलक अलंकार—उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा हैं। इस शैली में अलंकारों की सहायता से अंकित समानान्तर चित्रों का विशेष महत्त्व है। चंडी चरित्र (प्रथम), कृष्णावतार और चरित्रोपाख्यान के युद्ध-वर्णनों में इस शैली का प्रयोग हुआ है। चंडी चरित्र (प्रथम), कृष्णावतार और चरित्रोपाख्यान के युद्ध-वर्णनों में इस शैली का प्रयोग हुआ है। चंडी चरित्र (प्रथम) इसका आदर्श उदाहरण है। इसमें 233 छंद हैं और सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग लगभग 200 बार हुआ है। सवैया इस रचना का मुख्य छंद है। गुरु गोबिंद सिंह ने सामान्यत: सवैये की प्रथम तीन पंक्तियों में एक दृश्य चित्रित किया है और चतुर्थ पंक्ति में सादृश्यमूलक अलंकार की सहायता से एक समानान्तर दृश्य उपस्थित करके उस दृश्य में तीव्रता उत्पन्न की है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

सांग संभार करं बलु धारकै चंड दई रिपु भाल मैं ऐसे।
जोरकै फोर गई सिरत्रान को पारभई पट फार अनैसे।।
स्रउन की धार चली पथ ऊरध सो उपमा सु भई कहु कैसे।
मानो महेस के तीसरे नैन की जोत उदोत भई खुल तैसे।।

—द० ग्रं० प्र० 64

छंद-प्रधान-शैली में युद्ध-चित्रण

इस शैली में गुरु गोबिंद सिंह के युद्ध-चित्रण की दो प्रमुख विशेषताएं हैं—
1. गति 2. ध्वनि।

प्रथम विशेषता (गति) विषय और अभिव्यक्ति दोनों में ही प्राप्त है। योद्धा और उनके अस्त्र-शस्त्र हमें गुरु गोबिंद सिंह के युद्ध-चित्रण में सदा गतिशील दिखाई देते हैं। म्यान में पड़ी या कमर में लटकती तलवार, हाथ में पकड़ा हुआ भाला, कन्धे पर रखे हुए धनुष या तूणीर में पड़े हुए बाणों का इस चित्रण में कोई स्थान

नहीं है। योद्धाओं और अस्त्र-शास्त्रों का अनवरत रूप से क्रियाशील रहना इस चित्रण की विशेषता है। उदाहरणस्वरूप विचित्र नाटक का यह दृश्य—

जगियों जंग जालम सु जोध जुझारं।
बहे बाण बाँके बरच्छी दुधारं।।
मिले बीर बीरं महाधीर बंके।
धकाधक्कि सैथं कृपाणं झनक्के।। 46 ।।
—द० ग्रं०, पृ० 68

तहाँ खाँ हुसैनी रहिओ एक ढाढ़ं।
मनो जुद्ध खंगं रणं भूम गाड़ं।।
जिसै कोप कै कै हठी बाणि मारियो।
तिसै छेद के पैल पारे पधारियों।। 51 ।।
—द० ग्रं०, पृ० 68

सहे बाण सूरं सभै आण ढूकै।
चहूँ ओर ते मार ही मार कूकै।।
भलो-भाँति सो अस्त्र अउर शस्त्र झारे।
गिरे भिस्त को खाँ हुसैनी सिधारे।। 52 ।।
—द० ग्रं०, पृ० 68

अभिव्यक्ति सम्बन्धी गतिमयता उन्होंने लघु छन्दों, प्रवाहमयी भाषा और अनुप्रासों के प्रयोग से उत्पन्न की है। युद्ध-चित्रण के अनुकूल भुजंगप्रयात, रसावल, मधुमार और नराज आदि छन्दों द्वारा उन्होंने गतिमयता का निर्माण किया है।

ध्वनि

गति और ध्वनि का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। युद्ध-कर्म को सजीव बनाने के लिए वातावरणप्रधान ध्वनिमूलक शब्दों का आश्रय लिया जाता है। गुरु गोबिंद सिंह ने ध्वनि का निर्माण निम्नलिखित चार साधनों द्वारा किया है—

1. अनुप्रासों की सहायता से।
2. अनुकरणात्मक शब्दों की सहायता से।
3. लघु छन्दों की सहायता से।
4. अनुनासिकों की सहायता से।

इन चार के अतिरिक्त गुरु गोबिंद सिंह ने एक और साधन भी अपनाया है। उन्होंने ऐसे ध्वन्यात्मक संगीत-शब्दों का प्रयोग किया जिनसे अर्थ का नहीं, केवल अनुभव और वातावरण का बोध होता है। अनेक छंदों में उन्होंने यह ध्वनि-प्रणाली अपनाई है और उस विशिष्ट छंद के साथ उन्होंने 'संगीत' विशेषण जोड़ दिया है। इस प्रकार के 'संगीत भुजंगप्रयात' छंद का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

सागड़दंग सूरं कागड़दंग कोपं।
पागड़दंग परमं रणपाव रोपं।।
सागड़दंग सस्त्रं झागड़दंग झारै।
बागड़दंग वीरं डागड़दंग डकारै।। 36 ।। 663 ।।

—द० ग्रं०, पृ० 108

युद्ध-वर्णन में अनुप्रासों का प्रयोग सभी कवि करते आये हैं। गुरु गोबिंद सिंह भी बड़ी कुशलता से इनका प्रयोग किया है। कई बार तो प्रकृत विषय के मूक होने पर भी वे अनुप्रासों द्वारा वह ध्वनि उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरणस्वरूप—

करं बाम चाप्यं कृपाणं करालं।
महातेज तेजं विराजे बिसालं।।
महादाढ़ दाणं सु सोहं अपारं।
जिनै चरबीयं जीव जग्यं हजारं।। 18 ।।
डमा डम्म डमरू सिता सेत छत्रं।
हहा हूह हासं झमाझम्म अत्रं।।
महाघोर सबदं बजे संख ऐसं।
प्रलैकाल के काल की ज्वाल जैसं।। 19 ।।

—द० ग्रं०, पृ० 40

अनुकरणात्मक शब्दों की सहायता से भी कवि ने युद्ध-चित्र को सजीव बनाने का सफल प्रयास किया है—

1. हा हा हूह हासं। (द० ग्रं० पृ० 40)
2. धन धुधंरं घंट सुरं धमकै। (द० ग्रं० पृ० 40)
3. तह हड़ हड़ाय हस्से मकान। (द० ग्रं० पृ० 68)
4. टका टुक टोपं ढका ढुक ढाडं। (द० ग्रं० पृ० 68)
5. बबकंत बीरं भभकंत धायं। (द० ग्रं० पृ० 72)

लघु छंदों की सहायता से गुरु गोबिंद सिंह ने युद्ध का दृश्य किस प्रकार उपस्थित किया, इसके कुछ उदाहरण इसके पूर्व भी दिये जा चुके हैं। इस कार्य के लिए वे लघु छंदों का प्रयोग तो करते ही हैं, कई बार दीर्घ छंदों को भी इस प्रकार खंडों में विभक्त कर देते हैं कि उसमें तीव्र गति उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणस्वरूप निम्न छंद दृष्टव्य हैं—

कुपियो कृपालं, सज्जि मरालं, बाह बिसालं, धरि ढालं।
धाए सब सूरं, रूप करूरं, चमकत नूरं, मुख लालं।।
ले ले सु कृपाणं, बाण कमाणं, सजै जुआनं, तन तत्तं।
रणि रंग कलोलं, मार ही बोलं, जन गज डोलं, बन मत्तं।।

—द॰ ग्रं॰, पृ॰ 67

भड़थुआ और त्रिड़का जैसे लघु छंदों द्वारा यह दृश्य बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से कवि ने प्रस्तुत किया है—

गिरंतंत अंगं। कटंतंत जंगं।
चलंतंत तीरं। झटंकंत भीरं।। 164 ।।
जुझंतंत वीरं। भजंतं भीरं।
करंतंत क्रोहं। भरंतंत रोहं।। 165 ।।
तुटंतंत चरसं। कटंतंत बरमं।
गिरंतंत भूमी। उठतंत धूमी।। 213 ।।

—द॰ ग्र॰, पृ॰ 585–86

तररड़ तेगं। जणधण बेगं।
चररण चमकै। झड़रड़ झमकै।। 415 ।।
चररड़ जोधं। किररड़ क्रोध।
जड़रड़ जूझै। लड़ रड़ लूझै।। 416 ।।

—द॰ ग्रं॰, पृ॰ 568

अनुनासिकों की सहायता तो गुरु गोबिंद सिंह ने सर्वत्र ली है। ऊपर दिए हुए सभी उदाहरणों में अनुयासिकों का निरन्तर प्रयोग देखा जा सकता है।

गुरु गोबिंद सिंह ने अपने युद्ध-चित्रों में सभी प्रकार की ध्वनियों का बड़ा प्रभावशाली प्रयोग किया है। ये ध्वनियाँ शूरवीरों की हुंकार, उनकी गति, अस्त्र-शस्त्र

की टकराहट, रणवाद्यों और डाकिनी तथा भैरवी के तुमुल नाद से सम्बन्ध रखती है।

अलंकार-प्रधान शैली

इस शैली का मुख्य साधन अलंकार है। अलंकार के प्राय: तीन उद्देश्य होते हैं—

1. भावव्यंयजना में सहायता,
2. दृश्यों का चित्रण, तथा
3. चमत्कार की सृष्टि।

अलंकार-विधान का प्रमुख उद्देश्य प्रथम ही है, अर्थात् भावव्यंजना में सहायक होना। यह कार्य साम्य पर निर्भर अलंकारों के द्वारा भली-भांति सिद्ध हो सकता है। साम्य पर निर्भर अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, प्रतीप, व्यक्तिरेक, भ्रम, सन्देह आदि है। इस कार्य के लिए प्राय:कवियों ने उपमा, रूपक, और उत्प्रेक्षा अलंकारों को ही प्रश्रय दिया है। अलंकार-प्रधान शैली के युद्ध-चित्रण में गुरु गोबिंद सिंह ने सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है। भाव को तीव्र करने के लिए कवि ने हमारे सम्मुख जहाँ एक ओर भयावह, वीभत्स और क्रूर युद्ध-दृश्यों के समानान्तर उसी भाव को पुष्ट करने के लिए युद्ध-क्षेत्र से बहुत दूर के कोमल, सुखद और सुन्दर दृश्य भी प्रस्तुत किए हैं।

समानान्तर वीभत्स और भयावह दृश्यों में—

—दोनों पक्षों के हाथी इस प्रकार टकराते हैं, जैसे प्रलय काल के तीव्र वायु-वेग के कारण दो पहाड़ आपस में टकरा रहे हों।[1]

—कटी हुई बाँहें ऐसी लगती हैं जैसे आपस में लड़कर दो सर्पणियाँ पहाड़ से आ गिरी हों।[2]

---

1. लै करि बियाल सो बियाल बजावत सो उपमा कवि यो मन धारे।
   मानो महा प्रैल बहै पउण सो आपसि मै भिरहैं गिर भारे।।
   —द० ग्रं०, पृ० 88
2. बाँह कटीअध बीच ते मुंड सी सो उपमा कवि ने बरनी है।
   आपसि मै लरकै सु मनो गिरते गिरि सरपकी दुई धरनी है।।
   —द० ग्रं०, पृ० 88

—काली और सिंह को साथ लेकर चंडी ने दैत्यों को इस प्रकार घेर लिया, जैसे दावाग्नि वन को घेर लेती है।[1]

—चंडी के बाणों के तीव्र दाह से दैत्य इस प्रकार जल रहे हैं, जैसे अलावा में ईंटें जलती हैं।[2]

—शत्रु के मुँह में बरछी लगी और रक्त बह निकला, मानो हृदय में बढ़ी हुई क्रोधाग्नि फूटकर मुँह की राह बाहर निकल आई हो।[3]

इनके अलावा ऐस अनेक समानान्तर दृश्य हैं जो युद्ध की विकरालता को और विकराल बना देते हैं। परन्तु इस प्रकार का अप्रस्तुत विधान एक प्रकार की एकरसता का निर्माण भी कर देता है, जिसमें पाठक की रूचि कम होने लग जाती है। गुरु गोबिंद सिंह ने अपने युद्ध-वर्णन में जिन कोमल और सुन्दर समानान्तर दृश्यों की व्यंजना की है, वह अपने आपमें बहुत महत्वपूर्ण और अद्वितीय है। युद्ध के महा भयानक दृश्यों में ये समानान्तर चित्र पाठक की एकरसता को नष्ट करते हैं और वर्ण्य-विषय में उसकी रूचि को निश्चित ही तीव्र करते हैं।

इससे कुछेक चित्र यहाँ प्रस्तुत हैं—

युद्ध में कटा हुआ मांस देखकर गिद्ध इस तरह बोल रहे हैं; जैसे पाठशाला में विद्यार्थी अपना पाठ स्मरण कर रहे हों।[4]

—चण्डी ने दैत्य की गर्दन पकड़कर उसे इस तरह धरती पर पटक दिया, जैसे नदी-किनारे धोबी पत्थर की शिला पर कपड़े पछाड़ता है।[5]

---

1. काली अउ केहरि संगि लै चंडि सु घेरे सबै बन जैसे दवा पै।।
—द॰ ग्रं॰, पृ॰ 61
2. चंडके बानन तेज प्रभाव ते दैत जरे जैसे ईंट अवा पै।।
—द॰ ग्रं॰, पृ॰ 406
3. लाग गई तिहके मुख मै बहि स्रउन चल्यो उपमा ठहराई।
कोप की आग महा बढ़ि कै डढकै हियको मनो बाहर आई।।
—द॰ ग्रं॰, पृ॰ 406
4. मास निहारकै गृज्झ रड़ै चटसार पढ़ै जिसु बारक संथा।।
—द॰ ग्रं॰, पृ॰ 77
5. चंड संभार तबै बलुधार लहउ गहि नारि धरा पर मारिउ।
जिउ धुबिआ सरता तट जाइकै लै पटको पट साथ पछारिउ।।
द॰ ग्रं॰ पृ॰ 77

—चण्डी का छोड़ा हुआ चक्र शत्रुओं के शिरों को काटता हुआ इस प्रकार निकलता चला जा रहा है, जैसे नदी-किनारे किसी लड़के द्वारा फेंकी गई छिछली (कंकड़ी) पानी पर से फिसलती हुई निकल जाती है।[1]

—चण्डी को दैत्यों ने चारों ओर से घेर लिया। उसके बीच से मनसे भी तीव्र गति से वह इस प्रकार निकलती जा रही हैं, जैसे काले बादलों के बीच से बिजली।[2]

—शत्रुओं के वक्ष में घुसे हुए इन्द्र के बाणों का पृष्ठभाग ऐसा लग रहा है, जैसे पहाड़ की खोह में किसी पक्षी के बच्चे अपनी चोंच फैला रहे हों।[3]

—दैत्य ने चण्डी के सिंह को घायल कर दिया। सिंह के शरीर से रक्त की धारा इस तरह बह निकली, जैसे गेरू के पहाड़ पर वर्षा हुई हो और धरती पर उसका रंग फैल गया हो।[4]

—सहस्रों दैत्य 'मारो-मारो' चिल्लाते हुए चण्डी की ओर बढ़े चले आ रहे हैं। चण्डी उन्हें असंख्य रूपों में दिखाई दे रही हैं, मानो शीशमहल में एक मूर्ति अनेक रूप होकर दिखाई दे रही है।[5]

—दैत्य की बरछी चण्डी के मुँह में लगी और रक्त की धारा ऐसे बह निकली, मानो सिंहलद्वीप की नारी के कंठ से पान की पीक निकल रही हो।[6]

---

1. सिर सत्रुन के पर चक्र परिउ छुट ऐसे बहिउ करि के बरका।
   जनु खेलन को सरिता तट जाइ चलावत है छिछली लरका।।
   —द० ग्रं०, पृ० 78
2. तब घेरि लई चहुँ ओर ते दैतन इउ उपमा उपजी मन मैं।
   मनते तन तेजु चलिउ जगमात को दामिन जान चलै घन मैं।।
   —द० ग्रं०, पृ० 78
3. सक्र कमान के बान लगे सर फोरू लसै अरिके उर ऐसे।
   मानो पहार करार मैं चोंच पसार रहे सिसु सारक जैसे।।
   —दं० ग्रं० पृ० 80
4. घाइल के तन केहरि तै बहि स्रउन समूह धरान परिउ है।
   सो उपमा कवि ते बरनी मन की हरनी तिह नाउ धरउ हैं।।
   गेरू नग पर कै बरखा धरनी परि मानुह रंग ढरिउ है।।
   —द० ग्रं०, पृ० 86
5. मारहो मार पुकार हकार कै चँडि प्रचँडि कै सामुहि धाई।
   मानहु सीस महल के बीच सु मूरति एक अनेक सी छाई।।
   —द० ग्रं०, पृ० 80
6. जाइ लगी तिहके मुख मै वहि स्रउन परिउ अति हो छवि कीनी।
   मानहु सिंगलदीप की नार गरै मै तंबोल की पीक नवीनी।। —द० ग्रं०, पृ० 64

—राम के बाणों की वर्षा से घोड़े, हाथी और रथ इस प्रकार गिर रहे हैं, मानो फागुन में प्रचण्ड वायु के कारण पेड़ों के सूखे पत्ते टूटकर गिरते हैं।[1]

—रक्त से लथपथ रणभूमि में गिरे हुए सैनिक मानो लाल वस्त्र धरती पर बिछाए सो रहे हैं।[2]

—युद्ध क्षेत्र में वीरों के सिर कट जाते हैं, परन्तु धड़ खड़े रहते हैं। धड़ों से रक्त के फौहारे फूट पड़ते हैं, मानो वीरों के बागों में अनेक फौहारे फूटे हों।[3]

'दशम ग्रंथ' का अधिकांश युद्ध-चित्रण बाह्य जगत् के युद्ध से ही सम्बन्ध रखता है, परन्तु इस ग्रंथ की 'निहकलंकी अवतार' रचना के एक अंश में यह युद्ध आंतर जगत् के युद्ध में परिवर्तित हो जाता है। यहाँ दैत्य, दानव मुग़ल, पठान आदि लोग शत्रु और चण्डी, अन्य अवतार अथवा स्वयं गुरु गोबिंद सिंह, मित्र-पक्ष नहीं है। यहाँ सबसे बड़ा शत्रु है, अविवेक और उसके सहायक हैं—काम और उसकी सेना: वसंत, हुलास, आनन्द, भ्रम, कलह, वैर, आलस्य, अभिमान, परनिन्दा, चरित्रहीनता, लोभ, मोह, क्रोध और अहंकार आदि।

दूसरी ओर है विवेक। उसके सहायक हैं—धैर्य, व्रत, संयम, नियम, विज्ञान, निवृत्ति-भावना, योग, अर्चना, पूजा, अविकार, विद्या, सुकृति और भक्ति आदि।

काम और अविवेक की शक्ति का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

बलि महीप जिन छल्यो ब्रह्म बावन बस किन्नो।
किसन बिसन जिन हरे दंड रघुपत ते लिन्नो।।
दस ग्रीवहि जिन हरा सुभट सुम्भासुर खंड्यो।

---

1. श्रीरघुराज सरासन लै रिस ठान धनी रन बान प्रहारे।
बीरन मार दुसार गए सर अंबर ते बरसे जन भारे।।
बाज गजी रथ साज गिरे धर पत्र अनेक सु कउन गनावै।
फागन पउन प्रचंड बहे बन पत्रन ते जन पत्र उडानै।।
—द० ग्रं०, पृ० 237

2. घाइल गिरे सु मानो महा मतवारे है कै,
सोए रूमी तले लाल डार के अतल में।।
—द० ग्रं० पृ० 424

3. सीस कटे भट ठाढ़े रहे, इक स्रोण उद्‌यो छवि स्याम उचारे।
बीरन को मनो बाग बिखै जन छूटत है सु अनेक फुहारे।
—द० ग्रं० पृ० 545

महखासुर मरदीया मान मधकीट बिहंड्यो।।
सोउ मदन राज राजा नृपति नृप अविवेकी मंत्री कीयो।
जिह देव दईत गधर्व मुन जीत अडंड डंडहि लीयो।।

—द० ग्रं०, पृ० 688

भाषा

भाषा की दृष्टि से गुरु गोबिंद सिंह के काव्य का विशेष महत्व है। गुरु गोबिंद सिंह अपने समय की तीन भाषाओं पर समान अधिकार रखते थे। वे फारसी के विद्वान थे, जो उस युग की राजभाषा थी और राजकीय संदर्भ के सभी काम उस भाषा में होते थे। पंजाबी उनकी मातृभाषा थी। उनका अधिकांश शिष्य वर्ग पंजाबी भाषी प्रदेश से ही रहा होगा। परन्तु उनका शिष्य वर्ग अफगानिस्तान से लेकर महाराष्ट्र तक और सिंध से लेकर आसाम तक फैला हुआ था, इसलिए उनहोंने अपनी काव्य-रचना मुख्यतः ब्रजभाषा में की जो उस समय तक भारत के अधिकांश भाग की काव्य-भाषा बन चुकी थी। भक्तिकाल तक की रचनाएँ हमें भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में होती दृष्टिगत होती हैं, परन्तु रीतिकाल के आते-जाते बृजभाषा का प्रभाव राजस्थान से बंगाल तक और पंजाब से केरल तक छा गया था। ब्रज प्रदेश से दूर के अनेक प्रान्तों में ब्रजभाषा की नियमित शिक्षा देनेवाली अनेक पाठशालाएँ स्थापित हो गई थीं और वहाँ के कवि अपनी क्षेत्रीय भाषाओं के साथ ही ब्रजभाषा में भी रचनाएँ करते थे। ब्रज से दूरस्थ क्षेत्रीय कवि ब्रजभूमि में रहकर नहीं, उसके साहित्यिक रूप का अध्ययन करके ही ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करते थे। इसकी पुष्टि आचार्य भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' से होती है, जिसमें उन्होंने लिखा था कि ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रजवास की आवश्यकता नहीं है, केवल कवियों की वाणी का विधिवत अध्ययन कर लेने से ही काम चल सकता है :—

ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो,
ऐसे ऐसे कबिन्ह की बानी हूँ से जानिए।।

'कृष्णावतार' में गुरु गोबिंद सिंह ने एक स्थान पर लिखा है—

दशम कथा भागौत की,
भाषा करी बनाइ।

'भागवत्' के दशम अध्याय को 'भाषा' में लिखने का स्पष्ट अर्थ है 'जनभाषा' में लिखना। हिन्दी साहित्य के प्रथम दो विकास-कालों में 'ब्रजभाषा' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। संस्कृति से जनभाषा की भिन्नता सूचित करने के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग होता था। हिन्दी के प्राचीन कवियों ने जब-जब भाषा विशेष के अर्थ में इसका प्रयोग किया, तब तक उनका आशय जन-साधारण में प्रचलित उस बोली या विभाषा से रहा जो साहित्यिक भाषा की विशेषताओं से युक्त हो चुकी थी, जिसमें साहित्य-रचना भी होती थी और जो संस्कृत से भिन्न थी। अतएव दसवीं शताब्दी से लेकर आज तक जिस स्थान और जिस समय में जो भाषा जन-साधारण में प्रचलित थी, उसी के लिए 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया गया।

गुरु गोबिंद सिंह की भाषा में पूर्ववर्ती भाषाओं (संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश), समकालीन देशी भाषाओं (पंजाबी, ब्रज, अवधी, खड़ी बोली) और समकालीन विदेशी भाषाओं (अरबी, फारसी और तुर्की) के शब्दों का बहुविध प्रयोग प्राप्त होता है।

गुरु गोबिंद सिंह की भाषा का शब्द-भंडार अनेक भाषाओं से अनायास और सायास लिए हुए शब्दों से मिलकर बना है। उनका भावपक्ष इतना प्रबल है कि सर्वत्र उपयुक्त और समर्थ शब्दावली का चयन बड़े स्वाभाविक रूप से किया हुआ ज्ञात होता है।

उन्होंने अपने शब्द-भंडार की पूर्ति के लिए बड़ी उदारता से काम लिया और अपनी भाषा को सम्पन्न बनाने के लिए पूर्ववर्ती तथा समकालीन भाषाओं के शब्दों और प्रयोगों को उन्मुक्त रूप से अपनाया।

गुरु गोबिंद सिंह की शब्दावली पर संस्कृत का प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित होता है। उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया था तथा अपने शिष्यों को भी इस अध्ययन की ओर प्रेरित किया था। उनका अपने कुछ शिष्यों को संस्कृत के अध्ययन के लिए काशी भेजना इतिहास प्रसिद्ध है। संस्कृत के इन अध्येता शिष्यों की तब से एक विशिष्ट परम्परा ही बन गई, जिन्हें 'निर्मले' कहा जाता है। अमृतसर, हरद्वार और वाराणसी में आज भी उनके केन्द्र हैं, जिनमें संस्कृत का नियमित अध्ययन-अध्यापन होता है।

गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी रचनाओं में संस्कृत के तत्सम, अर्द्धतत्सम् और तद्भव, सभी प्रकार के शब्दों का प्रचुर उपयोग किया है।

अरबी-फारसी के शब्द

गुरु गोबिंद सिंह फारसी के विद्वान थे। फारसी की उन्होंने विधिवत् शिक्षा प्राप्त की थी। 'दशम ग्रंथ' में औरंगज़ेब को लिखा हुआ उनका पत्र 'ज़फरनामा' तथा 'हिक़ायतें', जो फारसी भाषा में हैं, संगृहीत हैं। ब्रजभाषा की अपनी रचनाओं में भी उन्होंने अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग किया है।

ऐसे शब्दों को लेकर कवि ने खिलवाड़ भी खूब की है। कवि कहीं फारसी शब्दों के साथ संस्कृत प्रत्यय या अनुस्वार लगा देता है तो कहीं संस्कृत शब्दों के साथ फारसी प्रत्यय जोड़ देता है, यथा—

तेग़ से तगं,[1] आसमान से आसमाणं,[2] अनेक से अनेकुल,[3] समस्त से समस्तुल,[4] सदैव से सदैवल,[5] सर्व से सरबुल,[6] नमस्त से नमस्तुल,[7] अंगज से अंगजुल[8] आदि।

शब्दों का बहुविध प्रयोग

अनेक शब्दों के बहुविध प्रयोग का वैशिष्ट्य 'दशम ग्रंथ' की रचनाओं में सर्वत्र दिखाई देता है। अपने इष्टदेव के लिए गुरु गोबिंद सिंह ने जितने नये अभियानों की रचना की, शायद ही किसी भक्त कवि ने की हो। परम्परा से आए हुए लगभग सभी संस्कृत, ब्रज और अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया पर जैसे यह सम्पूर्ण शब्दावली उनके लिए पर्याप्त नहीं थी, इसलिए उन्होंने सैकड़ों नये शब्दों का निर्माण कर डाला अथवा प्रचलित शब्दों को नये अर्थ दे डाले। उदाहरणस्वरूप असि (तलवार) से उन्होंने ईश्वर के लिए चार शब्द बनाए—

1. असिपान, 2. असिधारी, 3. असिधुज, 4. असिकेतु।

इसी प्रकार अनेक शास्त्रों के नामों को उन्होंने 'पाणि', 'धारी' या 'केतु' जोड़कर ईश्वर का पर्याय बना दिया, यथा—खड्पाणि, खड्गधारी, खड्गकेतु, शस्त्रपाणि,

---

1. जै जै जग कारण सृष्टि उबारण, मम प्रति पारण जै तेगं। (विचित्र नाटक)
2. दिशा विदिसायं जिमी आसमाणं।। (विचित्र नाटक)
3. अनेकुल तरंग है। (जापु)
4. समस्तुल सलाम है। (जापु)
5. सदैवल अकाम है। (जापु)
6. कि सरबुल गवंग है। (जापु)
7. नमस्तुल प्रनामें (जापु)
8. अगंजुल अनामे (जापु)

अस्त्रपाणि, सर्वलोह, महालोह, चक्रपाणि, धनुर्पाणि आदि।

कहीं-कहीं वे एक देशी और एक विदेशी शब्द की संधि करते हैं। यथा—

रुजूअल निधाने	(सबका आश्रयदाता)
कारन कुनिंद	(साधनों का दाता)
करमं करीम	(कर्म में दयालु)
अजबा कृत	(विचित्र रूपधारी)

6
भक्ति – भावना

गुरु गोबिंद सिंह अपने जन्म से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व प्रस्थापित गुरु नानक की आध्यात्मिक परम्परा के दसवें उत्तराधिकारी थे। उस समय तक सिख गुरुओं के मत का प्रचार पंजाब और पंजाब के बाहर प्रदेशों में हो चुका था। एक ओर काबुल और कान्धार से तथा दूसरी ओर असम से श्रद्धालुगण आकर सिख गुरुओं के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करते थे। स्वाभाविक रूप से गुरु गोबिंद सिंह ने उस उत्तरदायित्व के अनुकूल ही, अपनी भक्तिमयी अभिव्यक्ति पूर्ववर्ती नौ गुरुजों के अनुसार ही रखी है।

किन्तु गुरु गोबिंद सिंह तक आते–आते सिख सम्प्रदाय एक विशिष्ट राजनीतिक स्वरूप भी ग्रहण कर चुका था। कुछ इतिहासकार गुरु गोबिंद सिंह को एक शान्तिपूर्ण, धार्मिक सम्प्रदाय को राजनीतिक स्वरूप देने का श्रेय (अथवा दोष) देते हैं। किन्तु सिख इतिहास का सूक्ष्म अध्ययन करने एवं उसके स्वरूप में क्रमिक घटित होनेवाले परिवर्तन को ध्यानपूर्वक देखने वाले जिज्ञासु से यह छिपा नहीं है कि गुरु गोबिंद सिंह का दिया हुआ स्वरूप आकस्मिक नहीं था। मध्यकालीन भारतीय संतों, विशेष रूप से सिख गुरुओं ने, पारलौकिक जीवन की उपलब्धियों के सम्मुख इहलौकिक जीवन की कभी उपेक्षा नहीं की। धर्म केवल हमारे पारलौकिक सुख का ही साधन नहीं है, ऐसा ऋषियों ने भी कहा है। गुरु नानक प्रथम मुगल शासक बाबर के समकालीन थे। जैसे-जैसे मुग़लों के अन्याय इस देश की जनता पर बढ़ते गए, वैसे ही वैसे गुरुओं द्वारा प्रस्थापित संगठन के स्वरूप-परिवर्तन में क्षिप्रता आती गई। जहाँगीर के हाथों पंचम गुरु अर्जुन देव के बलिदान के पीछे विकसित होते हुए उसी स्वरूप को लेकर मुगल शासन की आशंका मौजूद थी।

गुरु गोबिंद सिंह के पितामह छठे गुरु हरिगोबिंद ने शाहजहाँ की सेनाओं से अनेक बार युद्ध किया और अपने रहन-सहन के ढंग में वही परिवर्तन किया, जिसे आगे चलकर गुरु गोबिंद सिंह ने अपनाया था। इसलिए गुरु गोबिंद सिंह के सक्रिय सशस्त्र विद्रोह को पूर्ववर्ती गुरुओं के शान्त, अहिंसात्मक विद्रोह से पृथक न मानकर उसकी विस्तृति के रूप में ही देखना चाहिए।

मध्यकालीन भक्तों ने अपनी रचनाओं में ईश्वर के दो रूपों की प्रतिष्ठा की है। एक वह जो सर्वोच्च सर्वशक्तिमान, जन्म-मरणहीन, सर्वव्यापी ब्रह्म है, जिसका कोई मित्र नहीं कोई शत्रु नहीं, जो सबका निर्माता, सबका पालक है। दूसरा रूप अवतारों की परम्परा का है, जो दुष्टों का संहार करने, सन्तों को उबारने, असत्य का विनाश कर सत्य की प्रतिष्ठा करनेवाला है। पहले प्रकार का ईश्वर हमारी विशुद्ध भक्ति-प्रेरणा का निरपेक्ष परिणाम है, जबकि दूसरे प्रकार के ईश्वर को सम्भवतः सामाजिक परिस्थितियों के कारण अस्तित्व में आना पड़ता है। हिन्दी के सगुण, साकारवादी भक्तों ने भी अपनी रचनाओं में स्वीकार किया है कि वैसे तो ईश्वर रूप, रंग, आकारहीन है परन्तु वह अपने भक्तों के लिए साकार स्वरूप ग्रहण कर अवतार लेता है। इसी भावना के अनुसार नृसिंह, राम और कृष्ण भक्त की कल्पना में आते हैं; साथ ही हिरण्यकशिपु, रावण और कंस का अस्तित्व भी बनता है, क्योंकि इनके बिना उन अवतारों की सार्थकता ही सिद्ध नहीं होती।

सिख गुरुओं ने ईश्वर के रूप का प्रतिपादन अधिकांशतः प्रथम रूप में ही किया है। गुरु नानक देव ने गुरुग्रंथ साहब के मूल मंत्र में उसके 'कर्त्ता पुरुष, निर्वैर, भय रहित, शत्रुता रहित, समय से परे और योनियों से परे' होने की बात कही है। गुरुग्रंथ साहब में परमात्मा के सर्वव्यापी रूप का वर्णन स्थान-स्थान पर हुआ है। वह जड़-चेतन, स्थूल-सूक्ष्म सभी में व्याप्त है। चौदह भुवनों और चारों दिशाओं में वही व्याप्त है। वह सर्वशक्तिमान है, करण-कारण समर्थ है।

परमात्मा के इस स्वरूप पर अपनी आस्था रखते हुए भी गुरुओं ने उसके 'संत पालक दुष्ट घातक' स्वरूप की आवश्यकता भी समझी है। सिख गुरुओं ने आध्यात्मिक साधना को संसार से पृथक करके कभी नहीं देखा। उनका सदैव यही आग्रह रहा है कि मनुष्य अपने सांसारिक कर्तव्यों की पूर्ति करता हुआ भी आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है। ईश्वर कहीं हमसे बाहर तो है नहीं, वह तो हमारे अंदर उसी प्रकार है जिस प्रकार पुष्प में गंध और शीशे में छाया व्याप्त है। इसलिए उसे

खोजने के लिए वन में जाने की आवश्यकता है ? स्पष्ट है कि गुरुओं ने कर्म का त्याग करने को कभी नहीं कहा, बल्कि सांसारिक कर्तव्यों के विधिवत् संपादन का आग्रह किया है। उनका यह घोषित वाक्य है–'मन से राम हाथ से काम।'

और यदि व्यक्ति को गृहस्थ में रहकर, सांसारिक उत्तरदायित्वों का भार वहन करते हुए परमात्मा की ओर प्रवृत्त होना है, तो उसकी यह प्रवृत्ति सामाजिक उत्तरदायित्वों की ओर से भी उसे कभी निरपेक्ष नहीं होने देगी। जब समाज पर असत् वृत्तियोंवाले लोगों का दबाव बढ़ जाता है, संतजन दुष्टों से पीड़ित होने लगते हैं, तो ईश्वर के उस स्वरूप की कल्पना आवश्यक हो जाती है, जिसमें वह दुष्टों का संहार करके संतों का उद्धार करता है। गुरु गोबिंद सिंह के पूर्ववर्ती सिख गुरुओं की अभिव्यक्ति में इस दृष्टिकोण के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

गुरु गोबिंद सिंह को ईश्वर के इन दोनों स्वरूपों की अनुभूति अपनी परम्परा से प्राप्त हुई। परन्तु पूर्ववर्ती गुरुओं की भक्ति–भावना में इन दोनों स्वरूपों का कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है। वे अगम, अगोचर ईश्वर के अनेक गुणों का वर्णन करते हैं, साथ ही उसमें दुष्ट–घालक संत पालक गुण का भी आरोप कर देते हैं।

परन्तु गुरु गोबिंद सिंह की रचनाओं में ईश्वर का यह निरपेक्ष और सापेक्ष रूप बड़ी मुखरता से उभरकर आता है। गुरु गोबिंद सिंह के पूर्ववर्ती गुरुओं के भक्त और जाति–निर्माता या सुधारक–रूप में अधिक अन्तर नहीं था, छठे गुरु हरिगोबिंद को छोड़कर। वस्तुतः उनका भक्त–रूप ही सदैव सामने रहता है। परन्तु गुरु गोबिंद सिंह के व्यक्तित्व में दो विभिन्न रूप स्पष्ट झलकते दिखाई पड़ते हैं।

पहला, भक्त–रूप–जिसमें वे विशुद्ध वैष्णव ढंग से भक्त हैं। निरभिमानी, वैराग्यपूर्ण, शत्रु-मित्रहीन, ईश्वर को सर्वत्र देखनेवाले, मानवमात्र की समता के समर्थक, ईश्वर के कृपालु, दयालु और सर्वस्नेही रूप को स्वीकार करनेवाले साधक।

दूसरा, जाति-निर्माता रूप–अपने पक्ष की विजय और दूसरे पक्ष की पराजय की इच्छा करनेवाले, ईश्वर से शत्रुओं का संहार कर अपने और अपने सहायकों की रक्षा की प्रार्थना करनेवाले।

पहले रूप में गुरु गोबिंद सिंह की परम आकांक्षा सदैव ईश्वर के चरणों में एकाग्र रहने की है और दूसरे में वे ईश्वर से वह शक्ति चाहते हैं, जिससे वे अपने शत्रुओं से सफलतापूर्वक युद्ध कर सकें और यदि आवश्यकता पड़े तो युद्धभूमि में शत्रुओं का विनाश करते हुए वीरगति को प्राप्त हों।

गुरु गोबिंद सिंह का इष्टदेव

संसार के सभी धर्मों में परमात्मा के अस्तित्व का विश्वास किसी न किसी रूप में है। उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में चाहे जितने तर्क-वितर्क और प्रमाणों का सहारा लिया जाए, अन्ततोगत्वा श्रद्धापूर्वक उसकी अनुभूति ही उसके अस्तित्व को भक्त के हृदय में पुष्ट करती है। सिख गुरुओं ने ईश्वर के अस्तित्व को सर्वत्र देखा। ईश्वर उनके लिए प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है–

बेद कतैब संसार हभाहूँ बाहरा।
नानक का पातिसाहु दिसै जाहरा।।

–आसा म० 5, पृ० 397

इसीलिए वे कहते हैं कि मैं जिधर भी देखता हूँ मुझे उसी के दर्शन होते हैं–

जह जह देखा तह तह सोई।।

–प्रभाती म० 1, पृ० 1243

परन्तु इतना प्रत्यक्ष होते हुए भी उस ईश्वर को सब तो नहीं देख पाते। उसे देखने के लिए तो विशेष दृष्टि उत्पन्न करनी पड़ती है। वे आँखें और ही होती हैं जो उसके दर्शन कर लेती हैं–

नानक से अखड़ीआ बिअँनि जिनी दिसंदो मापिरी।

–वडहंस म० 5, पृ० 577

सिख गुरुओं ने ईश्वर के निराकार रूप पर ही अधिक आग्रह किया है। उसे जन्म-मरण से परे माना है–

अलख अपार अगम अगोचरि ना तिसु कालु न करमा।
जाति अजाति अजोनी संभउ ना तिसु कालु न करमा।।

–सोरठ म० 1, पृ० 597

गुरु गोबिंद सिंह ने इसी भाव को 'जापु' के प्रथम पद में इस प्रकार कहा है–

चक्र चिह्न अरू बसन जात अरू पात नहिन जिह।
रूप रंग अरु रेख भेख कोउ कहि न सकति किह।।

अचल मूरति अनुभउ प्रकाश अभितोज कहिज्जै।
कोटि इंद्र इंद्राणि साहि साहणि गणिज्जै।।
त्रिभुवन महीप सुर नर असुर नेत नेत बन त्रिण कहत।
तब सरब नाम कत्थै कवन करम नाम बरणत सुमत।।

–द० ग्रंथ, पृ०

गुरु गोबिंद सिंह के पूर्ववर्ती गुरुओं ने अवतारवाद का खण्डन करते हुए और निराकार, अगोचर, अजन्मा की भक्ति का प्रचार करते हुए भी अवतारों से सम्बन्धित कथाओं और उनके द्वारा जिनका उद्धार हुआ, ऐसे भक्तों का उल्लेख, भक्ति की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए अनेक स्थानों पर किया है। प्रह्लाद, अजामिल, गणिका, द्रौपदी आदि की कथाओं के संकेत 'गुरुग्रंथ साहब' में यत्र-तत्र मिलते हैं।

'दशम ग्रंथ' का अध्ययन करते समय हमारे सम्मुख पौराणिक भावना के दो रूप स्पष्ट होकर आते हैं–

1. जहाँ अवतारवाद का स्पष्ट खंडन किया गया है। निराकार परमात्मा की भक्ति का आग्रह है। फिर भी परमात्मा के दयालुता एवं कृपालुता आदि गुणों पर प्रकाश डालने के लिए पौराणिक कथाओं का उल्लेख आदि ग्रंथ के अनुसार हुआ है।

2. जहाँ अवतारवाद को स्वीकार किया गया है। परन्तु अवतारी ईश्वर को ब्रह्म के समकक्ष नहीं माना, वरन् उसे विशिष्ट शक्तियों से सम्पन्न जीव ही स्वीकार किया है। उन्होंने विकास के क्षेत्र में ईश्वर को ब्रह्म से नीचा स्थान दिया है। अवतार भी वे ईश्वर का मानते हैं, ब्रह्म का नहीं।

चौबीस अवतारों का वर्णन करते समय ब्रह्म अथवा काल-पुरुष और विष्णु का यह अन्तर अनेक स्थानों पर दिखाई देता है।

पहले प्रकार की पौराणिकता गुरु गोबिंद सिंह को परम्परा से ही प्राप्त हुई। जैसाकि कहा जा चुका है कि ध्रुव, प्रह्लाद, अजामिल, द्रौपदी, गणिका आदि की पौराणिक कथाएँ परमात्मा की संरक्षणता एवं भक्ति की महिमा को सिद्ध करने के लिए बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखती रही हैं। कबीर जैसे कट्टर निराकारवादी और अवतार विरोधी ने भी अपनी बात की पुष्टि के लिए इन कथाओं का सहारा लिया है। गुरु गोबिंद सिंह की विशुद्ध भक्तिपूर्ण रचनाओं में भी ऐसे कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं–

आदि अनादि अगाधि कथा ध्रुअ से प्रह्लाद अजामल तारे।
नामु उचार तरी गनिका सोई नामु अधार बीचार हमारे।। 10 ।।

गुरु गोबिंद सिंह की विशुद्ध भक्तिपूर्ण रचनाओं में इस प्रकार के पौराणिक उदाहरण नहीं हैं। हाँ, परमात्मा का स्वरूप-वर्णन करते हुए पौराणिक कल्पनाओं से मुक्त साकार रूप की चर्चा उन्होंने अनेक स्थानों पर की है। चतुर्भुज, सारंगपाणि, नीलवसन, आजानबाहु, बनवारी, मुरानी आदि नामों का उनमुक्त प्रयोग हुआ है।

दूसरे प्रकार की अवतार-भावना 'दशम ग्रंथ' की प्रमुख अवतार-भावना है। गुरु गोबिंद सिंह केवल एक भक्त या भक्ति के प्रचारक मात्र नहीं थे। भक्त होते हुए भी वे एक राजपुरुष थे अपने युग के आततायी शासन के विरुद्ध उभरते हुए जनआन्दोलन के नेता थे। गुरु गोबिंद सिंह से सहस्रों वर्ष पूव गीता में 'साधुओं के परित्राण एवं दुष्टों के विनाश' की उक्ति जन-मन में अवतार की कल्पना को सजीव बनाए हुए थी। भारतीय जनता में यह अटूट विश्वास था कि जब-जब धर्म की हानि होती है और आततायियों का प्रभाव बढ़ जाता है, उस समय ईश्वर का अवतार होता है। गुरु गोबिंद सिंह ने स्वयं अपने आपको भी इसी परम्परा में स्वीकार किया है। यद्यपि वे अपने-आपको ईश्वर नहीं कहते, परम पुरुष का दास कहते हैं, फिर भी उनके जन्म धारण का उद्देश्य वही अवतारोंवाला ही है।

इन अवतार-कथाओं द्वारा गुरु गोबिंद सिंह जनता में आत्मविश्वास और शक्ति का संचार करना चाहते थे। देवता कौन है और असुर कौन हे, इसकी चर्चा कवि ने 'आत्मकथा' में इस प्रकार की है–

साध करम जे पुरख कमावै। नाम देवता जगत कहावै।।
कुक्रित करम जे जग में करहीं। नाम असुर तिनको सभ धरहीं।। 5 ।।
–द० ग्रं० पृ० 48

इन अवतार-कथाओं का वर्णन करते समय कवि ने अनेक स्थानों पर यह स्पष्ट किया है कि अवतारों को जन्म देनेवाली शक्ति 'काल' है। वही सबको जन्म देता है और अन्त में वही सबको नष्ट करता है। वह स्वयं अनेक रूप धारण करता है, फिर उन विभिन्न रूपों को अपने अन्दर सहमति कर लेता है। सभी अवतार इस महाकाल की आज्ञा द्वारा शासित हैं। कोटि-कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश इसी काल-पुरुष के 'देहि' से जन्म लेते हैं। कई स्थानों पर कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी 'काल पुरुष' को समझाने में असमर्थ हैं।

परमात्मा के नारी-रूप की ओर गुरु गोबिंद सिंह के पूर्ववर्ती सिख गुरुओं का कोई, झुकाव नहीं था। उन्होंने अपने इष्ट को सदा पुरुष रूप में ही देखा। उसे अकाल पुरुष आदि अनेक नामों से पुकारा। भारतीय पौराणिक नामावली से भी उन्होंने परमात्मा को अभिहित करने के लिए बहुत-से नाम ग्रहण किए, परन्तु वे सब नाम भी पुरुषवाचक ही रहे। दाम्पत्य भाव की भक्ति को सिख गुरुओं ने आदर्श रूप में अपने सम्मुख रखा, जिसमें जीवात्मा अपने आपको पत्नी और परमात्मा को पति मानती है। गुरु अर्जुन देव ने एक ऐसी जीवात्मा-रूपी स्त्री की कल्पना की है, जो अनन्य भाव से परमात्मा-रूपी पति से अनुरक्त है-

गुन अवगुन मेरा कछु न बीचारो।
नह देखिओ रूप रंग सींगारो।।
चज अचार किछु विधि नहीं जानी।
बाँह पकरि प्रिअ सैजे आनी।।

-गु॰ ग्रं॰ सा॰, आसा महला॰ 5, पृ॰ 372

किन्तु गुरु गोबिंद सिंह के काव्य में हमें इस दृष्टि से नवीनता दिखाई देती है। उन्होंने अपनी रचनाओं में भगवती चण्डी को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वैसे परमात्मा के लिए स्त्री नाम इस देश की परम्परा में स्वीकृत है, परन्तु गुरु गोबिंद सिंह ने भवगती चण्डी का ही स्मरण विशेष श्रद्धा से किया है। उनके काव्य की यह विषय वस्तु भी ऐसी तत्कालीन परिस्थितियों की ओर इंगित करती है, जिनसे उनका काव्य विशेष रूप से प्रभावित था। भगवती चण्डी की युद्ध की देवी के रूप में इस देश में युगों से प्रतिष्ठा है। 'धर्म जुद्ध के चाव' की भावना से ग्रंथ-सृजन करनेवाले गुरु गोबिंद सिंह ने चण्डी को उसी परम्परागत रूप से स्वीकार किया है। सामान्यतः गुरु गोबिंद सिंह ने ब्रह्म को स्त्री और पुरुष के भेदों से परे ही माना है। वह पुरुष भी है, स्त्री भी है; पर न वह पुरुष है और न ही स्त्री-

तेज को प्रचण्ड है अखण्डन को खण्ड है।
महीपन को मंड है कि इस्त्री है न नर है।।

-दशम ग्रंथ पृ॰ 37

फिर वही तो सबसे बड़ी शक्ति है। शक्तिमान और उसकी शक्ति अभेद्य है। सूक्ष्म ब्रह्मा का स्थूल व्यापक रूप माया है। वही सूक्ष्म है, वही स्थूल है। परमात्मा के स्वरूप की यह व्यापकता और अभेदत्व पूर्ववर्ती सिख गुरुओं की वाणी में भी

उपलब्ध है। गुरु नानक ने एक जगह कहा था–"परमात्मा ही पुरुष है, वही स्त्री है, वही जुए की पासा है और वही उसकी सारी है।" गुरु गोबिंद सिंह ने 'जापु' में ईश्वर के गुणों की स्तुति करते हुए उसे एक स्थान पर 'लोकमाता।।

नमो परम ज्ञात। नमो लोकमाता।।

–द० ग्रं०, पृ० 3

गुरु गोबिंद सिंह ने 'चंडी चरित्र' (उक्ति विलास) में इस भाव को भली-भांति व्यक्त किया है–

तारन लोक उधारन भूमहि दैत संघारण चंड तुही है।
कारन ईस कला कमला हर अद्रसुता जह देखा उही है।।
तामसता ममता नमता कविता कवि के मन मद्धि गुही है।
कीनो है कंचन लोह जगत्र है पारस मूरत जाहि छुही है। 4 ।।

(हे काल ! लोक को तारनेवाला, धरती का उद्धार करनेवाला, दैत्यों को मारनेवाला तीव्र तेज तू ही है। जगत् का कारण ईश्वर (विष्णु), उसकी कला (लक्ष्मी), जगत को नाश करने वाला शिव और उसकी शक्ति (पार्वती) जहाँ देखता हूँ, वही है। तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण–तीनों गुणों के गुणत्व-अवस्था की कविता को तुमने ही कवि के मन में गूँथा है। तू पारस की मूर्ति है; जिसे छू लेता है, जगत में वह लोहा सोना हो जाता है।)

कवि की दृष्टि में काल और भवानी में काई भेद नहीं है। 'चौबीस अवतार' के मंगलाचरण में वह कहता है–

प्रथम काल सभ जग को ताता। ताते भयो तेज बिख्याता।।
सोई भवानी नाम कहाई। जिन सिगरी यह स्रिष्टि उपाई।। 26 ।।

इस प्रकार गुरु गोबिंद सिंह ने भगवती चंडी को राम, कृष्ण, गणेश आदि देवताओं या अवतारों की साधारण श्रेणी में न रखकर उसे महाकाल का ही नारी-रूप से स्वीकार किया है। 'दशम् ग्रंथ' में एक स्थान ऐसा भी है जहाँ दीर्घदाढ़ नामक दैत्य से युद्ध करते समय सभी देवता पराजित हो जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि भय से छिप जाते हैं, यहाँ तक कि काली भी दैत्य का संहार करने में अपने को असमर्थ पाती है। ऐसे में वह भी महाकाल के सम्मुख आकर सहायता की प्रार्थना करती है और महाकाल उन्मुक्त हँसी हँसकर उसकी सहायता के लिए कमर में

तलवार बाँधकर, रथ पर चढ़कर दैत्यों से युद्ध करता है और उनका विनाश करता है। यह प्रसंग 'चरित्रोपाख्यान' का अंतिम उपाख्यान है। महाकाल को सम्बन्धवाचक ढंग से यदि पिता कहा जाय तो चंडी को माता कहा जा सकता है। गुरु गोबिंद सिंह ने इस सम्बन्ध को अपनी कथा में स्पष्ट स्वीकार किया है--

सरब काल है पिता हमारा। देवि कालका मात हमारा।।
मनुआ गुर मुरि मनसा माई। जिन मोको सुभ क्रिआ पढ़ाई।। 5 ।।

—द० ग्रं०, पृ० 73

'मैं न गनेसहि प्रथम मनाऊँ' कहनेवाले कवि ने कई रचनाओं के आरम्भ में भवगती चंडी का स्मरण किया है। 'चौबीस अवतार' वर्णन में कोई अवतार-कथाओं का आरम्भ 'श्री भगवती जी सहाय' शब्दों से हुआ है। भगवती से हर प्रकार का वरदान प्राप्त होता है। गोपियाँ कृष्ण को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए भगवती की आराधना करती हैं। शूरवीर युद्ध में जय प्राप्त करने के लिए भगवती की वन्दना करते हैं। भगवती चंडी के उपासक स्वयं शिव और कृष्ण से पराजित नहीं होते।

स्वयं गुरु गोबिंद सिंह ने अपने कार्य की सफलता के लिए भगवती चंडी से वरयाचना की है—

देह शिवा वर मोहि इहै सुभ करमन ते कबहूँ न टरौ।
न डरौ अरि सों जब जाई लरौं निसचै करि अपनी जीत करौ।।

—द० ग्रं०, पृ० 66

सम्पूर्ण सिख साहित्य में परमात्मा के नामों के सम्बन्ध में कोई विशेष आग्रह नहीं है। सिख गुरुओं ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए सभी प्रचलित नामों का उन्मुक्त प्रयोग किया, वे नाम चाहे निर्गुण भाववाले हों या सगुण भाववाले अथवा हिन्दू परम्परा के हों या इस्लामी परम्परा के। उनकी दृष्टि में परमात्मा के निकट कोई विशेष नाम या शब्द कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। नाम तो केवल भावों को व्यक्त करने के माध्यम हैं। परमात्मा हमारे आन्तरिक भावों को ही देखता है। उसे स्मरण करने के लिए किसी विशेष भाषा या शब्दावली की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए गुरुओं ने ईश्वर के नामों के सम्बन्ध में कोई आग्रह नहीं प्रगट किया। जो पौराणिक नाम पुराणों में देवतासूचक हैं, सिख गुरुओं ने उनका उपयोग एकमात्र परमात्मा के लिए ही किया है।

गुरु गोबिंद सिंह के सम्पूर्ण साहित्य में परमात्मा के अगणित नामों का प्रयोग हुआ है। परन्तु 'काल' इस साहित्य में ईश्वर का प्रतिनिधि नाम है। मध्यकालीन भक्तों की रचनाओं में ईश्वर के लिए विविध प्रकार के नाम प्रयुक्त किए गए, किन्तु यह नाम कहीं दिखाई नहीं देता।

इस नाम को अपने साहित्य में प्रतिष्ठित करने का गुरु गोबिंद सिंह का विशिष्ट उद्देश्य था। यहाँ फिर उनके उद्देश्यपरक दृष्टिकोण की बात उभरकर आती है। वे भक्त मात्र नहीं थे। उन्हें अपने समय के आततायी शासन के विरुद्ध जन-मत को संगठित करना था, उसे युद्ध जैसे क्रूर कर्म के लिए सन्नद्ध करना था।

कृष्ण भक्ति काव्य तो अपनी मधुर भाव की उपासना के कारण ही उस युग में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। संपूर्ण काव्य में कृष्ण के सुन्दरतम रूप की कल्पना में नायक की शारीरिक सुन्दरता का प्रतीक बन गई। रीतिकालीन प्रत्येक नायक में कृष्ण के रूप की प्रतिष्ठा हुई। तुलसी के राम यद्यपि धनुष-बाण धारी हैं, परन्तु उनके सुन्दर-सलोने रूप को प्रकारान्तर से प्रेम साहित्य भी कहा जा सकता है। भक्त कवियों ने अपने प्रेम के आलम्बन को सुन्दर, मनोहारी रूप में उपस्थित करने में ही अपनी प्रतिभा को सफल माना है। सूर के कृष्ण, तुलसी के राम और सिख गुरुओं के सगुणवत् चित्रित अकाल पुरुष-सभी के व्यक्तित्व बड़े मनोहारी हैं, जिस पर भक्तजन इस प्रकार न्योछावर होते हैं, जैसे स्त्री अपने प्रिय पति पर।

गुरु गोबिंद सिंह की वाणी में भी परमात्मा के सुन्दर-सलोने रूप की पर्याप्त चर्चा हुई, परन्तु वहाँ जैसे उनका परम्परागत विशुद्ध भक्त रूप ही बोलता है। वस्तुतः उनकी अधिकांश रचनाओं पर योद्धारूप छाया हुआ है, इसलिए ईश्वर के उग्र रूप को उनकी अधिकांश रचनाओं में प्रधानता मिली है और 'काल' उस उग्र रूप का भली प्रकार प्रतिनिधित्व करता है।

वे केवल काल को ही कर्त्ता मानते हैं, जो आदि से लेकर अंत तक अनन्त रूपों को बनाने-बिगाड़नेवाला है-

> केवल काल ही करतार।।
> आदि अंत अनन्ति मूरति गड़न भंजन हार।।

—द० ग्रं०, पृ० 711

उस काल ने ही अपना प्रसार किया और ओंकार से सम्पूर्ण सृष्टि को बनाया–

पृथम काल जब करा पसारा।
उअंकार ले सृष्टि उपारा।।

–द० ग्रं०, पृ० 47

काल की आज्ञा से ही विष्णु, ब्रह्मा, शिव, योगी, सुरासुर, गन्धर्व, यक्ष, सर्प आदि जन्म लेते हैं। अंत में ये काल (मृत्यु) की लपेट में आकर नष्ट हो जाते हैं। केवल काल ही अकाल है–

काल ही पाइ भयो भगवान् सु जागत या जग जाकी कला है।
काल ही पाइ भयो ब्रह्मा शिव काल ही पाइ भयो जुगीआ है।।
काल ही पाइ सुरासुर गंध्रब जच्छ भुजंग दिसा विदिसा है।
अउर सकाल सभै बस काल के एक ही काल अकाल सदा है।।

–द० ग्रं०, पृ० 48

अन्ततोगत्वा वह सभी को काल-कवलित करता है, इसीलिए तो उसे काल कहा जाता है–

अन्त करत सभ जग को काला।
नामु काल तातै जग डाला।।

–द० ग्रं०, पृ० 156

वैसे तो काल सभी कुछ है। वही बनाता है, वही बिगड़ता है, परन्तु 'काल' शंब्द का ही उच्चारण करते ही विनाश और मृत्यु का भयानक स्वरूप सम्मुखं आ खड़ा होता है। गुरु गोबिंद सिंह को अपनी परिस्थिति के अनुसार ईश्वर के निर्माण और पोषण रूपों की इतनी आवश्यकता नहीं थी जितनी विनाश करनेवाले स्वरूप की। वे तो स्पष्टतः यह कहना चाहते थे कि जिस काल ने बड़े-बड़े देवताओं, दैत्यों, सम्राटों को क्षण-भर में समाप्त कर दिया उसके सम्मुख कोई टिक सके, ऐसी शक्ति किसमें शक्ति है। कदाचित यह कहकर उन्होंने अपने युग की उस शक्ति-मदान्ध मुगल-सत्ता की ओर संकेत किया, जिसकी विशाल शक्ति के सम्मुख काल का भरोसा लेकर ही वे जनता को तैयार कर रहे थे–

या कलि में सभ काल कृपान के भारी भुजान को भारी भरोसो।

–द० ग्रं०, पृ० 45

उन्होंने बड़े विश्वास से कहा है कि काल के सुंभ, निसुंभ, धूम्रलोचन, चंड, मुंड, महिखासुर, चामर, चिच्छुर, रक्तबीज आदि राक्षसों को क्षण-भर में नष्ट कर दिया। ऐसे स्वामी का सहारा पाकर दास को भला किसकी परवाह हो सकती है–

सुंभ निसुंभ से कोटि निसाचर जाहि छिनेक बिखै हन डारे।
धूमर लोचन चंड अउ मुंड से माहख से पल बीच निवारे।।
चामर से रन चिच्छुर से रकतिच्छण से झट दै झझकारे।
ऐसो सु साहिबु पाइ कहा परवाह रही इह दास तिहारे।। 63 ।।

–द० ग्रं० पृ० 45

'काल' को उन्होंने सर्वकाल, महाकाल, श्रीकाल, आदि अनेक नामों से पुकारा है। काल के रूप में गुरु गोबिंद सिंह ने ईश्वर के वीर रूप की प्रतिष्ठा की। वह काल और उसकी शक्ति चंडी कहीं-कहीं अपने सुन्दर स्वरूप में है। परन्तु अधिकांश में उनका रूप भी रौद्र है। डमरू बजाते, फणिधर के समान फुफकराते, बाघ के समान दहाड़ते, दामिनी के समान हँसते, रक्त पान करते अष्टायुध धारण किये, सिंह पर सवार, अपनी दाढ़ में सभी को बचाते हुए भयावह रूप का चित्रण अनेक स्थानों पर हुआ है। अकाल-स्तुति में काली का यह भयावह द्रष्टव्य है–

डाँबरू डबंकै बबर बबंकै भुजा फरकै तेज बरं।
लंकुडीआ फाधै आयुध बाँधै सैन विमर्दन काल असुरं।।
अस्टायुध चमकै भूषण दमकै अतिसित झमकै फुकं फांग।
जय-जय होसी महिषासुर मर्दन रम्मक मर्दन दैत जिणं।। 3 ।। ।। 2 ।।

–द० ग्रं०, पृ० 31

'विचित्र नाटक' से काल के इस रौद्र रूप का उल्लेख मात्र उदाहरण के लिए प्रस्तुत है अन्यथा ऐसे रूपों का 'दशम ग्रंथ' मं कोई अभाव नहीं–

करं बाम चापियं कृपाणं करालं।
महातेज तेजं बिराजे बिसालं।।
महादाढ़ दाढ़ं सु सोहं अपारं।
जिसे चरवीयं जीव जग्यं हजारं।। 8 ।।
डमा डम्म डबरू सितासंत छत्रं।
हाहाहूह हासं झमा झम्म अत्रं।।

महा घोर सबदं बजे संख ऐसे।।
प्रलैकाल के काल की ज्वाला जैसे।। 9 ।।

—द० ग्रं० पृ० 50

'काल' का वर्णन करते हुए उसके साकार रूप की कल्पना भी कवि के सामने अनायास आ गई है। इस साकार कल्पना में काल का अस्त्र-शस्त्रधारी रूप ही उनके सम्मुख प्रमुख रूप से रहा है। उसे उन्होंने खड्गपाणि, कृपाणपाणि, बाणपाणि, दण्डधारी, चक्रपाणि, असिपाणि, असिधुंज (ध्वज), खडगकेतु, धनुष-बाणधारी आदि अनेक शस्त्रधारी नामों से पुकारा। अस्त्र-शस्त्रों और ईश्वर के वीर रूप के प्रति उनकी तन्मयता इतनी बढ़ी कि उनकी दृष्टि में शस्त्र और शस्त्रधारी में काई अंतर न रहा। स्वयं खड्ग ही खड्गधारी का प्रतीक बन गया। वीर कार्यों के प्रसंग में शस्त्र-पूजा इस देश की प्राचीन परंपरा रही है। गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी कविता द्वारा इस परम्परा का और मुखर किया। 'विचित्र नाटकं' ग्रंथ का प्रारंभ की वे खड्ग की स्तुति से करते हैं—

नमस्कार श्रीखड्ग कउ करौ सु हितु चितु लाइ।
पूरन करो ग्रंथ इह तुम मुहि करहु सहाइ।। 1 ।।

—द० ग्रं०, पृ० 36

7
जीवन पर एक दृष्टि

गुरु गोबिंद सिंह को मात्र 42 वर्ष की आयु प्राप्त हुई थी। उनके द्वारा किए हुए कार्यों तथा उनकी आयु के इन स्वल्प वर्षों में ठीक से संगति बैठा पाना बहुत दुष्कर कार्य है। फिर जीवन कार्य भी ऐसे जो विविधता को इस रूप में अपने अंदर समेट लेते हैं कि कहीं-कहीं उनमें विचित्र-सा विरोधाभास नज़र आने लगता है। एक आध्यात्मिक पुरुष और सांसारिक व्यक्तित्व, एक योद्धा और एक ऐसी गद्दी के स्वामी जिसके पीछे नौ पीढ़ियों की उपार्जित प्रतिष्ठा, वैभव एवं असंख्य अनुगामियों का समूहः-ये सब कुछ कहीं एक दूसरे के विरोधी दृष्टिगत होते हैं। परन्तु गुरु गोबिंद सिंह के व्यक्तित्व में ये सभी बातें अद्भुत रूप से समाई हुई हैं, और इससे निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उनके व्यक्तित्व का कौन-सा रूप दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

राष्ट्र-निर्माता

गुरु गोबिंद सिंह के जीवन पर दृष्टि जाते ही हमें उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य यह लगता है कि उन्होंने एक पीड़ित, दलित और आत्मविस्मृत जाति को अदम्य आत्मविश्वास से परिपूर्ण शक्ति में परिवर्तित कर दिया। भारत का तत्कालीन हिंदू समाज असंख्य टुकड़ों में बँटा हुआ था, जिसका उच्चवर्ग या तो धार्मिक पाखण्डों और बाह्याचारों में निमग्न था या अपने मिथ्या गौरव और जातीय अहंकार को लेकर मुग़ल-शक्ति की सेवा में लीन था। उसी समाज के शताब्दियों से सर्वथा उपेक्षित वर्ग को अपना सहयोगी बनाकर गुरु गोबिंद सिंह ने उसमें असीम शक्ति और आत्मविश्वास का संचार किया। डॉ० गोकुल चंद नारंग के शब्दों में-वे मनुष्य जिन्होंने

कभी कृपाण को छुआ तक नहीं था और न ही बन्दूक को अपने कंधे पर रखा था, सशक्त वीर बन गए। उन्होंने धींवरों, धोबियों, चमारों को भी ऐसा सेनापति बना दिया जिनके आतंक से बड़े-से-बड़े राजा भी भयभीत होने लगे।

लोगों में अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए जिस शक्ति-संचार की आवश्यकता थी, उसक लिए गुरु गोबिंद सिंह ने अपने पूर्ववर्ती गुरुओं की भक्ति-पद्धति में वीर रूपकों का समावेश किया। सम्पूर्ण भक्ति-काव्य में ईश्वर के सृष्टि-निर्माण एवं पोषण करने वाले गुणों के वर्णन का प्राधान्य है। परन्तु ईश्वर का एक और रूप भी है–विनाश करनेवाला रूप। गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी रचनाओं में ईश्वर के निर्माण एवं पोषण सम्बन्धी गुणों के साथ ही उसके विनाशकारी स्वरूप का भी बड़े मनोयोग से चित्रण किया। अनेक स्थानों पर वे कहते हैं कि जिस 'काल पुरुष' ने बड़े-बड़े देवताओं, दैत्यों, सम्राटों को क्षण-भर में समाप्त कर दिया, उसके सम्मुख कोई टिक सके, ऐसी शक्ति किसमें है ? कदाचित् यह कहकर उन्होंने अपने युग की उस शक्ति–मदान्ध मुग़ल-सत्ता की ओर संकेत किया, जिसकी विशालता के सम्मुख उस 'काल पुरुष' का भरोसा लेकर ही वे खड़े हुए थे–

या कलि मैं सभ काल कृपान के,
भारी भुजान को भारी भरोसो।

–द० ग्रं, पृ० 45

गुरु गोबिंद सिंह के सम्पूर्ण साहित्य में परमात्मा के अगणित नामों का प्रयोग हुआ है, परन्तु इनमें 'काल' नाम उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। मध्यकालीन भक्तों की रचनाओं में ईश्वर के लिए विविध प्रकार के नाम प्रयुक्त किए गए हैं, किन्तु यह नाम कहीं दिखाई नहीं देता। पौराणिक साहित्य में अवश्य इस नाम को प्रतिष्ठा प्राप्त है। 'विष्णु पुराण' में लिखा है–

"हे द्विज ! परब्रह्म का प्रथम रूप पुरुष है, अव्यक्त (प्रकृति) और व्यक्त (महदादि) उसके अन्य रूप हैं तथा (सबको क्षोभित करनेवाला होने से) काल उसका परम रूप है।"

'काल' का परिचय 'विष्णु पुराण' में इन शब्दों में दिया गया है–

"हे विप्र ! विष्णु के परम (उपाधिरहित) स्वरूप से प्रधान और पुरुष–ये दो रूप हुए उसी (विष्णु) के जिस अन्य रूप द्वारा वे दोनों (सृष्टि और प्रलय काल में) संयुक्त और वियुक्त होते हैं, उस रूपान्तर का ही नाम 'काल' है।"

अपने साहित्य में गुरु गोबिंद सिंह ने ईश्वर के इस अप्रचलित नाम का प्रयोग विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर किया। उन्होंने बड़े विश्वास से कहा कि जिस 'काल' ने सुम्भ, निसुंभ, धूम्रलोचन, चण्ड, मुण्ड, महिषासुर, चामर, रक्तबीज आदि राक्षसों को क्षणभर में नष्ट कर दिया, ऐसे स्वामी का सहारा पाकर भला मुझे किसकी परवाह है।

'काल' को उन्होंने अकाल, सर्वकाल, महाकाल, श्रीकाल आदि उनक नामों से पुकारा है। काल के रूप में उन्होंने ईश्वर के वीररूप और उग्ररूप की प्रतिष्ठा की है। डमरू बजाते, फणिधर के समान फुफकारते, बाघ के समान दहाड़ते, दामिनी के समान हँसते, रक्त पीते अष्टायुध धारण किए, सिंह सवार, अपनी दाढ़ में सभी को चबाते जैस भयावह रूपों का चित्रण उनके साहित्य में अनेक स्थानों पर हुआ है।

गुरु गोबिंद सिंह के सम्मुख 'काल' के साकार रूप की कल्पना भी अस्त्र-शस्त्र-युक्त है। जनता के सम्मुख ईश्वर का वंशी बजान, गौएं चराने, माखन चुराने का रूप ही प्रमुख था। उन्होंने उसके सम्मुख खड्गपाणि, कृपाणपाणि, बाणपाणि, दण्डधारी, चक्रपाणि, असिपाणि, असिध्वज, खड्गकेतु, धनुष-बाणधारी आदि अनेक वीररूप रखे।

ईश्वर के वीररूप और अस्त्र-शस्त्रों के प्रति उनकी इतनी तन्मयमा थी कि उनकी दृष्टि में शस्त्र और शस्त्रधारी में कोई अंतर ही न था। स्वयं 'खड्ग' ही 'खड्पाणि' का प्रतीक बन गया। वे घोषित करते हैं कि संतों के सुख का, दुष्टों का दलन का, संसार की स्थिति का, सृष्टि के उद्धार का और मेरी प्रतिज्ञा के पालन का एकमात्र साधन तेग़ ही है, उसी की जय हो–

खग खण्ड विहंडं खलदल खंडं अति रण मंडं बरवंडं।
भुज दण्ड अखण्ड तेज प्रचंड जोति अमंड भानु प्रभं।।
सुख संता करणं दुरमति दरणं किलबिख हरणं असि सरणं।
जै जै जग कारण सिस्ट उबारण मम प्रति पारण जै तेगं।।

–द० ग्रं०, पृ० 39

गुरु गोबिंद सिंह के काव्य का वैष्ट्यि

गुरु गोबिंद सिंह हिन्दी में वीर रस के वे एकमात्र कवि हैं, जिनकी रचनाओं

की पृष्ठभूमि में कोई सांसारिक आकांक्षा नहीं है, जिन्हें किसी आश्रयदाता को प्रसन्न नहीं करना है, जिन्हें अपनी कवित्व-शक्ति का प्रयोग जीविकोपार्जन के लिए नहीं करना है। साहित्य-सृजन के लिए उनकी एकमात्र 'वासना' 'धर्म युद्ध का चाव' है–

दशम कथा भागौत की भाषा करी बनाइ।
अवसर वासना नाहि प्रभु धर्म जुद्ध को चाइ।।

–द॰ ग्रं॰, पृ॰ 570

वीर भावों युक्त उद्‌गारों की अभिव्यक्ति गुरु गोबिंद सिंह की रचनाओं के संग्रह 'दशम ग्रंथ' में अनेक स्थानों पर प्राप्त होती है। 'कृष्णावतार' नामक रचना में एक स्थान पर वे कहते हैं–

अब रीझ कै वहै हम कउ जोउ हौं बिनती कर जोर करौं।
जब आउ की अउध निदान बनै अति ही रन में तब जूझ भरौं।।

–द॰ ग्रं॰, पृ॰ 570

इसी रचना में उनकी एक अन्य अभिव्यक्ति इस प्रकार है–

हे रवि हे ससि, करुनानिधि, मेरी अबै बिनती सुन लीजै।
अउर न माँगत हौं तुमसे कछु चाहत हौं चित मैं सोई कीजै।।
सस्त्रन सिउँ अति ही रण भीतर जूझ मरौं कहि साच पतीजै।
संत सहाइ सदा जग माहि कृपा करि स्याम इहै बरू दीजै।।

–द॰ ग्रं॰, पृ॰ 495

अपनी एक रचना 'चंडी चरित्र' (प्रथम) में आयु की अवधि समाप्त होने पर वीरगति प्राप्त करने की इच्छा उन्होंने इस प्रकार व्यक्त की है–

देह शिवा बर मोहि इहै सुभ करमन ते कबहूँ न टरौं।
न डरौं अरि सों जब जाई लरौं निसचै करि अपनी जीत करौ।।

अरु सिखहौं अपने ही मन को इह लालच हौं गुन तउ उचरौं।
जब आउ की अउध निदान बनै अति ही रन में तब जूझ मरौं।।

गुरु गोबिंद सिंह की रचनाओं में इस प्रकार की उदात्त भावना का प्रकटीकरण स्थान-स्थान पर हुआ है। यही भावना अन्य काव्यगुणों से सयुक्त होकर उन्हें हिंदी-वीरकाव्य के उच्चतम स्थान पर प्रतिष्ठित करती है।

महामानव-रूप

गुरु गोबिंद सिंह के योद्धा और राष्ट्रनिर्माता-रूप की चर्चा बहुधा हुई है। परन्तु उससे भी ऊपर उठा हुआ उनका एक और रूप है, जिसका परिचय उनके जीवन-कार्यों और उनके द्वारा रचित साहित्य के माध्यम से प्राप्त होता है। उन्होंने मानव-जीवन में व्याप्त उनके विषमताओं का केवल खण्डन ही नहीं किया, वरन् नये मूल्यों की प्रतिष्ठा भी की। जहाँ वे युद्धरत सैनिक हैं, वहाँ अपने पक्ष की विजय और परपक्ष की पराजय की कामना करते हैं परन्तु उनके महामानव-रूप से निखरा उनका व्यक्तित्व बड़ा शक्तिशाली है। यहाँ वे शत्रु-मित्र, स्वधर्मी-परधर्मी और स्वदेशी-परदेशी किसी भी भेद को स्वीकार नहीं करते। मानवमात्र की समता और सभी में एक ज्योति की प्रतिष्ठा में उनकी दृढ़ आस्था है।

इतिहास का एक अनोखा व्यक्ति

वास्तव में गुरु गोबिंद सिंह का यह व्यक्तित्व उन्हें इतिहास का एक अनोखा व्यक्ति बना देता है। उनकी भक्ति-भावना में उनके ये दोनों रूप हमें स्पष्ट दिखाई देते हैं। वे एक भक्त थे। भक्त का संसार में कोई शत्रु-मित्र नहीं होता। कम-से-कम शत्रु तो नहीं होता, परंतु गुरु गोबिंद सिंह तो तत्कालीन अन्यायी शासन के विरुद्ध उभरते हुए जनान्दोलन के नेता भी थे। नेता के मित्र भी होते हैं और शत्रु भी उनके मित्र कम थे। साथ ही वे असंगठित, दुर्बल और पददलित भी थे। दूसरी ओर शत्रु शक्तिशाली और पीड़क थे। ऐसी स्थिति में भगवान की सहायता की अपेक्षा होती है। उसी के भरोसे आत्म-विश्वास पैदा होता है और बढ़ता है। ईश्वर का एक पक्ष का सहायक होना और दूसरे पक्ष का संहारक होना, हमारे पौराणिक साहित्य में स्वीकृत है। सभी अवतार देवताओं के पक्ष में तथा असुरों के विपक्ष में युद्ध करते रहे हैं। गुरु गोबिंद सिंह ने इस सिद्धान्त को पौराणिक कथाओं की सीमा से बाहर निकालकर समसायिक जीवन के यथार्थ पर घटित किया। यद्यपि तुलसीदास के राम और सूरदास के कृष्ण भी असाधु शत्रुओं के नाशक और साधु मित्रों के पालक हैं, परन्तु तुलसीदास या सूरदास ने अपने व्यक्तिगत शत्रुओं के विनाश की प्रार्थना अपने इष्टदेवों से कभी नहीं की, जबकि गुरु गोबिंद सिंह ने अपने इष्टदेव 'काल' से अपने शत्रुओं के विनाश और अपने परिवार, सेवकों, सिखों के संरक्षण की प्रार्थना की है।

इसका कारण स्पष्ट है। सूर, तुलसी, कबीर, नानक सभी भक्त हैं, किन्तु गुरु गोबिंद सिंह योद्धा भक्त हैं। योद्धा-भूमि में जाते समय सदैव अपने पक्ष की विजय और विपक्ष की पराजय की कामना अपने इष्टदेव से ही करते आए हैं। इसीलिए उनकी कुछ रचनाओं में ऐसी भावनाओं का परिचय मिलता है। किन्तु इससे पृथक् उनका वह रूप है, जो उन्हें महामानव के रूप में एक विशिष्ट धरातल पर प्रतिष्ठित करता है।

गुरु गोबिंद सिंह ने मनुष्य और मनुष्य में अंतर उसकी जाति, धर्म, रंग या परिवेश के कारण कभी स्वीकार नहीं किया; और न ही उन्होंने ईश्वर के विभिन्न नामों, धर्म-स्थानों और पूजा-पद्धतियों में कोई अन्तर स्वीकार किया है। भगवान के भक्त उसे अनेक नामों से पुकारते हैं, फिर भी वह अनेक नहीं है। मानव-जाति ईश्वर का अनेक नामों से स्मरण करती है, उसे अनेक रूपों में देखती है और विभिन्न स्थानों में उसके अस्तित्व की कल्पना करती है, परन्तु इससे उसकी मानवीय एकता नष्ट नहीं होती, क्योंकि यह विभिन्नता वातावरण-जनित है। जो ज्योति सबमें प्रकाशित हो रही है, वह तो एक ही है–

कोऊ भयो मुँडिया संन्यासी कोऊ जोगी भयो,
कोऊ ब्रह्मचारी कोऊ जति अनुमानबो।
हिंदू तुरक कोऊ राफजी इमाम शाफी,
मानस की जात सबै एकै पहचानबो।।
करता करीम सोई राजक रहीम ओई,
दूसरो न भेद कोई भूल भ्रम मानबो।।
एक ही की सेव, सभही को गुरुदेव एक,
एक ही सरूप सबै एकै जोति जानबो।।

–द० ग्रं०, पृ० 19

विभिन्न पूजा-पद्धतियों के बीच व्याप्त एकता के भाव की पुष्टि करते हुए वे अपनी रचना 'अकाल स्तुति' में रहते हैं–

देहरा मसीत सोई पूजा और निवाज ओई,
मानव सबै एक पै अनेक को भ्रमाउ है।
देवता अदेव जच्छ गन्धर्व तुरक हिन्दू,
निआरे निआरे देसन के भेस को प्रभाउ है।

एकै नैन एकै कान एकै देह एकै बान,
खाक बाद आतश औ आब को रलाउ है।
अल्लाह अभेषु सोई पुरान और कुरान ओई,
एक ही सरूप सबै एक ही बनाउ है।

—द० ग्रं०, पृ० 19

गुरु गोबिंद सिंह बार-बार इस बात का आग्रह करते हैं कि दृश्यमानजगत के इन अनेक अंगों-उपांगों के मूल में एक ही परम शक्ति निवास करती है। सब कुछ उसी से उत्पन्न होता है और अन्त में उसी में समाप्ति हो जाता है—जैसे अग्नि के लपटें निकलकर उसी में मिल जाती हैं, नदी की अनेक तरंगें उसी में से उठती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं, धूल के अनेक गुबार उत्पन्न होते हैं और फिर धूल में ही मिल जाते हैं, विश्वरूप भी ऐसा ही है। उसमें से अनेक रूप उत्पन्न होकर अन्त में उसी में मिल जाते हैं—

जैसे एक आग ते कनूका कोट आग उठे,
निआरे-निआरे हुई कै फेरि आग में मिलाहिंगे।
जैसे एक धूरते अनेक धूर पूरत है
धूर के कनूगा फेर धूर ही समाहिंगे,
जैसे एक नदी से तरंग कोट उपजत है।
पानी के तरंग सबै पानि ही कहाहिंगे।
तैसे बिस्व रूप ते अभूत भूत प्रकट होई,
ताही ते उपज सबै ताही मैं समाहिंगे।।

—द० ग्रं०, पृ० 20

विश्व की सभी प्रकार की अनेकता में एकता की ज्योति को प्रज्ज्वलित देखने-वाले दशम गुरु इस रूप में अपनी सभी निजी सीमाओं का अतिक्रमण कर विश्वपुरुष बन जाते हैं।